स्वामीनाथ

वर्ष ४७] * * [अङ्क

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,५७,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, अप्रैल १९७३

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
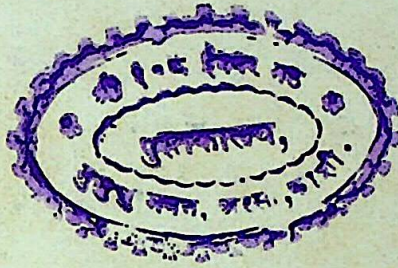
श्रीसीताराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
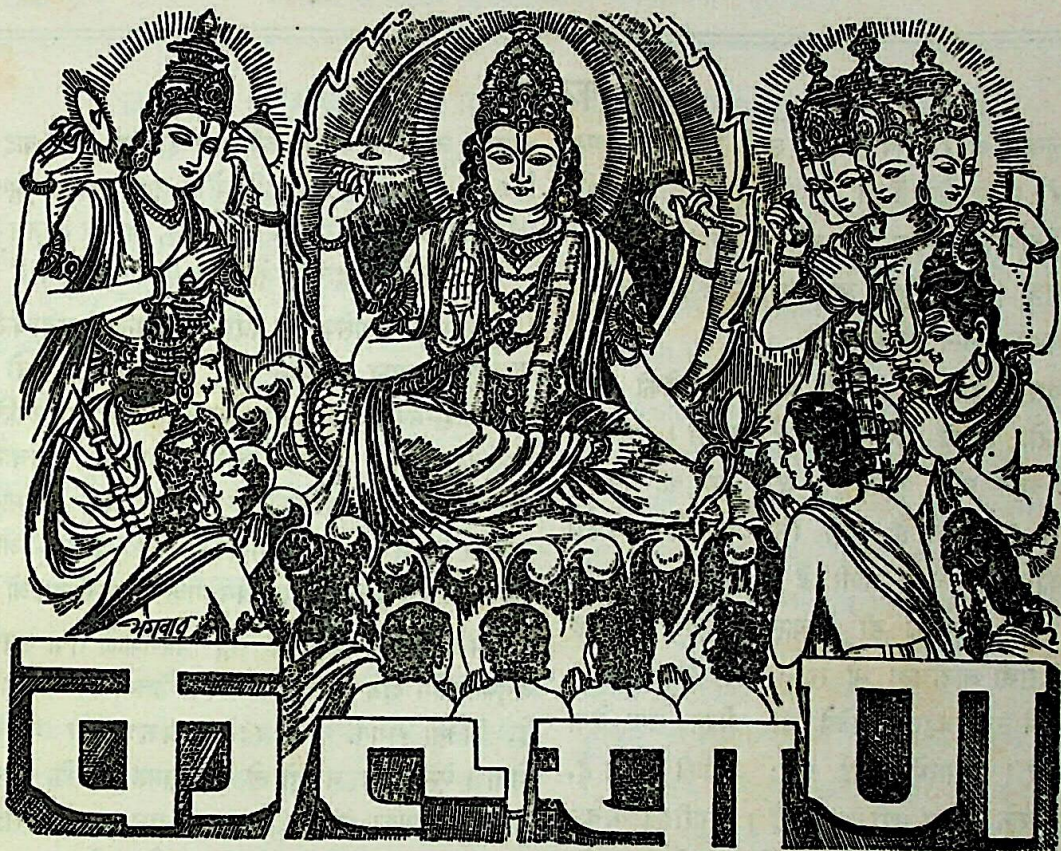
अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने । सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शंकराय च । वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ॥

(श्रीविष्णुपुराण १ । २ । १-२)

वर्ष ४७ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, अप्रैल १९७३ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ५५७

'नमामि रामं रघुवंशनाथम्'

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं
सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

(मानस, अयो० ३)

'नील कमलके समान श्याम और कोमल जिनके अङ्ग हैं, श्रीसीताजी जिनके वाम भागमें विराजमान हैं और जिनके हाथोंमें क्रमशः अमोघ वाण और सुन्दर धनुष हैं, उन रघुवंशके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ ।'

कल्याण

तुम्हारे अंदर दोष हैं तो उन्हें छिपानेका प्रयत्न न करो; प्रकट होते हैं तो हो जाने दो। हाँ, सद्गुणोंको छिपानेका अवश्य यत्न करो, उनके प्रकट होनेमें सकुचाओ। अपने मुँहसे अपने गुणोंका बखान करनेको तो मरणके समान ही समझो।

दूसरेके द्वारा भी अपनी प्रशंसा सुननेकी इच्छा न करो, उसको विषभरी मिठाई समझो। मनुष्यको बड़ाई बहुत प्यारी लगती है; परंतु जहाँ वह बड़ाईके चक्करमें पड़ जाता है, वहाँ फिर चौरासीके चक्रसे छूटनेकी आशा चली जाती है। बड़ाई सुननेवाला सदा बड़ाई सुननेका ही अभ्यासी हो जाता है, वह अपनी सच्ची आलोचना भी सहन नहीं कर सकता। परिणाममें उसे बड़ाईके लिये ही जीवन लगा देना पड़ता है। संसारमें बड़ाई प्रायः उसीकी होती है, जो संसारके काँटेपर भारी उतरता है। संसारी काँटेके बाट आजकल अधिकांशमें वे ही हैं, जिनसे मनुष्य केवल प्रकृतिका ही उपासक बनता है, चेतनसे जड होना चाहता है।

सुनो तो साहस करके निन्दा सुनो; निन्दासे घबराओ नहीं। अवश्य ही शास्त्र और आत्माकी ध्वनिके विपरीत कोई निन्दनीय काम तुम कभी न करो। महात्मा पुरुष तो निन्दा-स्तुतिके परे होते हैं, वे समबुद्धि होते हैं। महात्माओंका पदानुसरण करनेवालोंको भी पहले निन्दासे प्रेम और स्तुतिसे भय करना पड़ता है, तभी वे आगे चलकर महात्माका पद प्राप्त कर सकते हैं।

निन्दाके योग्य पाप-कर्म कभी न करो, पाप-कर्म करनेवाला महात्मा कभी नहीं बन सकता। सत्कर्म करो। महात्मा पुरुषोंको खोजकर उनके आज्ञानुसार चलो। महात्मा न मिलें तो कम-से-कम उन लोगोंसे तो सदा बचते रहो, जो पर-स्त्री, पराये धन और पर-निन्दाके प्रेमी हैं। उन लोगोंका सङ्ग भी यथासाध्य छोड़ दो, जो विषयी हैं, विलासी हैं, भगवान्‌का भजन छोड़कर जगत्‌की चर्चामें लगे रहते हैं, तर्क और वाद-विवादमें समय बिताते हैं, इन्द्रियोंको तथा शरीरको सुख पहुँचानेके लिये सदा यत्न करते रहते हैं, स्वादिष्ट भोजनके लिये लालायित रहते हैं और मान-सम्मान चाहते हैं।

किसीपर दोषारोपण न करो। न अपनेको शुद्धाचारी या त्यागी मानकर अभिमान करो, न किसीसे द्वेष करो। जहाँतक सम्भव हो, अपना समय भजनमें, सत्पुरुषोंकी संगतिमें भगवान्‌की ओर लगानेवाले ग्रन्थोंके अध्ययनमें, सदाचारी साधु-महात्माओंके जीवनका अनुसरण करनेमें, अभिमान छोड़कर सच्चे भावसे गरीबोंकी सेवा करनेमें और अहंकारसे बचकर अपने वर्णाश्रमधर्मके पालनमें लगाओ।

सच्चे महात्मा पुरुषोंका सङ्ग करनेवालों तथा उनके अनुयायियोंमें शुद्ध आचरणका होना उतना ही आवश्यक है, जितना सूर्यके सामने रहनेपर प्रकाश और गर्मीका होना। ऐसी बात न हो तो यह समझ लो कि या तो सच्चे महात्माका अभाव है, या तुम उनके सङ्गी अथवा अनुयायी नहीं हो। सङ्गी वह है, जो महात्माके आचरणोंका सङ्ग (अनुकरण) करता है; और अनुयायी वह है, जो उनके कहे अनुसार चलता है।

सच बात तो यह है कि महात्माका सङ्ग तो दूर रहा, श्रद्धायुक्त चित्तसे उनके स्पर्श, दर्शन, चिन्तन, नाम-गुण-श्रवण-कथनसे ही अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, उनकी चरण-धूलिके स्पर्शसे ही चित्तका मल नष्ट हो जाता है। अतएव महात्मा पुरुषोंमें सच्ची श्रद्धा करो, उनका यथार्थ सङ्ग करो, उनके सच्चे अनुयायी बनो। फिर तुम यथार्थ महात्मा बन जाओगे।

महात्माके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करो, महात्माके योग्य आचरण करो, महात्मा बनो; यह आकाङ्क्षा कदापि मनमें न उदय होने दो कि लोग मुझे महात्मा मानें या जानें। लोगोंके मानने या जाननेका कुछ भी मूल्य नहीं है; मूल्य तुम्हारे उत्तम आचरणोंका है, तुम्हारी श्रेष्ठ स्थितिका है।

—'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

गीतामें भक्तिका स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रन्थ है; यह कर्म, उपासना और ज्ञानके तत्त्वोंका भंडार है। इस बातको कोई नहीं कह सकता कि गीतामें प्रधानतासे केवल अमुक विषयका ही वर्णन है। यद्यपि यह छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमें सब विषयोंका सूत्ररूपसे वर्णन है, तथापि किसी भी विषयका वर्णन स्वल्प होनेपर भी अपूर्ण नहीं है। इसीलिये कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिस्सृता॥

(महा० भीष्म० ४३ । १)

'गीता भलीभाँति गान करने योग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है—जो गीता स्वयं श्रीपद्मनाभ भगवान् विष्णुके मुखारविन्दसे निकली हुई है। (फिर) अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है?'

इस कथनमें दूसरे शास्त्रोंका निषेध नहीं है, यह तो गीताका सच्चा महत्त्व बतलानेके लिये है। वास्तवमें गीतोक्त ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। गीतामें अपने-अपने स्थानपर कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंका विशद और पूर्ण वर्णन होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कौन-सा विषय प्रधान और कौन-सा गौण है। सुतरां जिनको जो विषय प्रिय है—जो सिद्धान्त मान्य है, वही गीतामें भासने लगता है। इसीलिये भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार गीताके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं; पर उनमेंसे किसीको हम असत्य नहीं कह सकते। जैसे वेद परमात्माका निःश्वास हैं, उसी प्रकार गीता भी साक्षात् भगवान्की वाणी होनेसे भगवत्-स्वरूप ही है। अतएव भगवान्की भाँति गीताका स्वरूप भी भक्तोंको अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे भासता है। कृपासिन्धु भगवान्ने अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके कल्याणार्थ इस अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश किया है।

गीतामें यद्यपि कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनों सिद्धान्तोंकी ही अपनी-अपनी जगह प्रधानता है, तथापि यह कहा जा सकता है कि गीता एक भक्तिप्रधान ग्रन्थ है; इसमें ऐसा कोई अध्याय नहीं, जिसमें भक्तिका कुछ प्रसङ्ग न हो। गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भक्तिमें ही है। आरम्भमें अर्जुन **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२ । ७) कहकर भगवान्की शरण ग्रहण करता है और अन्तमें भगवान् **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** (१८ । ६६) कहकर शरणागतिका ही पूर्ण समर्थन करते हैं—समर्थन ही नहीं, समस्त धर्मोंके आश्रयका सर्वथा परित्याग कर केवल भगवदाश्रय—अपना आश्रय ग्रहण करनेकी आज्ञा करते हैं और साथ ही समस्त पापोंसे मुक्त कर देनेका भी जिम्मा लेते हैं। यह मानी हुई बात है कि शरणागति भक्तिका ही एक स्वरूप है। अवश्य ही गीताकी भक्ति अविवेकपूर्वक की हुई अन्धभक्ति या अज्ञानप्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जडता नहीं है; गीताकी भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है। गीताकी भक्ति पूर्णपुरुष परमात्माकी पूर्णताके समीप पहुँचे हुए साधकद्वारा की जाती है। गीताकी भक्तिके लक्षण बारहवें अध्यायमें भगवान्ने स्वयं बतलाये हैं। गीताकी भक्तिमें पापको स्थान नहीं है। भगवान्का शरणागत अनन्य भक्त तो वास्तवमें सब ओर सबमें सर्वदा भगवान्को देखता है, वह छिपकर भी पाप कैसे कर सकता है। जो शरणागत भक्त अपने जीवनको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उनके इशारेपर नाचना चाहता है, उसके द्वारा पाप कैसे बन सकते हैं। जो

भक्त सब जगत्‌को परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है, वह निष्क्रिय अथवा आलसी कैसे हो सकता है; तथा जिसके पास परमात्म-स्वरूपके ज्ञानका प्रकाश है, वह अन्धतममें कैसे प्रवेश कर सकता है।

इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'युद्ध करो, परंतु सब समय मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करते हुए और मुझमें (भगवान्‌में) अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर करो।' यही तो निष्कामकर्मसंयुक्त भक्तियोग है, इससे निस्संदेह परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकारकी आज्ञा ९।२७ और १८।५७ आदि श्लोकोंमें दी गयी है।

इसका अर्थ यह नहीं कि केवल कर्मयोग या केवल भक्तियोगके लिये भगवान्‌ने स्वतन्त्ररूपसे कहीं कुछ भी नहीं कहा है। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (२।४७) **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२।४८) आदि श्लोकोंमें केवल कर्मका और **'मन्मना भव'** (९।३४) आदिमें केवल भक्तिका वर्णन मिलता है; परंतु इनमें भी कर्ममें भक्तिका और भक्तिमें कर्मका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध प्रच्छन्न है। समत्वरूप योगमें स्थित होकर फलका अधिकार ईश्वरके जिम्मे समझकर जो कर्म करता है, वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरस्मरणरूप भक्ति करता है और पूजा, नमस्कार आदि भगवद्भक्ति-परक क्रियाओंको करता हुआ भी साधक तत्तत् क्रियारूप कर्म करता ही है। साधारण सकामकर्मीमें और उसमें भेद इतना ही है कि सकाम-कर्मी कर्मका अनुष्ठान सांसारिक कामना-सिद्धिके लिये करता है और निष्कामकर्मी भगवत्प्रीत्यर्थ करता है। स्वरूपसे कर्मत्यागकी तो गीताने निन्दा की है और उसे तामसी त्याग बतलाया है। १८।७ एवं अध्याय ३ के श्लोक ४ में कर्मत्यागसे सिद्धिका नहीं प्राप्त होना कहकर अगले श्लोकमें स्वरूपसे कर्मत्यागको अशक्य भी बतलाया है। अतएव गीताके अनुसार प्रधानतः अनन्यभावसे भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित होकर, भगवान्‌की आज्ञा मानकर, भगवान्‌के लिये मन, वाणी, शरीरसे स्ववर्णानुसार समस्त कर्मोंका आचरण करना ही भगवान्‌की भक्ति है और इसीसे परम सिद्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् घोषणा करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है।'

इस प्रकारके कर्म बन्धनके कारण न होकर मुक्तिके कारण ही होते हैं; इनमें पतनका डर बिल्कुल नहीं रहता है। भगवान्‌ने साधकको भगवत्प्राप्तिके लिये और साधनोत्तर सिद्धिकालमें ज्ञानीको भी लोकसंग्रह यानी जनताको सन्मार्गपर लानेके लिये अपना उदाहरण पेशकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है, यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है—**'तस्य कार्यं न विद्यते'** (३।१७)।

इसके सिवा अर्जुन क्षत्रिय, गृहस्थ और कर्मकुशल पुरुष थे; इसलिये भी भगवान्‌ने उन्हें कर्मसहित भक्ति करनेके लिये ही विशेषरूपसे कहा और वास्तवमें सर्व-साधारणके हितके लिये भी यही आवश्यक है। संसारमें तमोगुण अधिक छाया हुआ है। तमोगुणके कारण लोग भगवत्-तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर एकान्तवासमें

भजन-ध्यानके बहाने नींद, आलस्य और अकर्मण्यताके शिकार हो जाते हैं। प्रायः देखा भी जाता है कि कुछ लोग, 'अब तो हम निरन्तर एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान ही किया करेंगे' कहकर कर्म छोड़ देते हैं, परंतु थोड़े ही दिनोंमें उनका मन एकान्तसे हट जाता है। कुछ लोग सोनेमें समय बिताते हैं, तो कोई कहने लगते हैं—'क्या करें, ध्यानमें मन नहीं लगता।' फलतः कुछ तो निकम्मे हो जाते हैं और कुछ प्रमादवश इन्द्रियोंको आराम देनेवाले भोगोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। सच्चे भजन-ध्यानमें लगनेवाले बिरले ही निकलते हैं। एकान्तमें निवास करते हुए भजन-ध्यान करना बुरा नहीं है, परंतु यह साधारण बात नहीं है। इसके लिये बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है और यह अभ्यास कर्म करते हुए ही क्रमशः बढ़ाया और गाढ़ किया जा सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि 'नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए फलासक्तिरहित होकर मेरी आज्ञासे मेरी प्रीतिके लिये कर्म करना चाहिये।' परमेश्वरके ध्यानकी गाढ़ स्थिति प्राप्त होनेमें कर्मोंका संयोग-वियोग बाधक-साधक नहीं है; प्रीति और सच्ची श्रद्धा ही इसमें प्रधान कारण हैं। प्रीति और श्रद्धा होनेपर कर्म उसमें बाधक नहीं होते, बल्कि प्रीति एवं श्रद्धाके साथ कर्म करनेवालेका प्रत्येक कर्म भगवत्-प्रीतिके लिये ही अनुष्ठित होकर शुद्ध भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। इससे भी कर्मत्यागकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। परंतु इस कथनसे एकान्तमें निरन्तर भक्ति करनेका निषेध भी नहीं समझना चाहिये।

अधिकारियोंके लिये **'विविक्तदेशसेवित्वम्'** (निर्जन स्थानमें रहना) और **'अरतिर्जनसंसदि'** (१३ । १०) (लोकालयसे वैराग्य) होना उचित ही है, परन्तु संसारमें प्रायः अधिकांश अधिकारी कर्मके ही मिलते हैं। एकान्तवासके वास्तविक अधिकारी वे हैं, जो भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन हैं, जिनका हृदय अनन्यप्रेमसे परिपूर्ण है, जो क्षणभरके भगवान्‌के विस्मरणसे ही परम व्याकुल हो जाते हैं, भगवत्-प्रेमकी विह्वलतासे बाह्य ज्ञान लुप्तप्राय रहनेके कारण जिनके सांसारिक कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न नहीं हो सकते और जिनको संसारके ऐशो-आरामरूप भोगके दर्शन-श्रवणमात्रसे ही ताप होने लगता है। ऐसे अधिकारियोंके लिये जनसमुदायसे अलग रहकर एकान्तदेशमें निरन्तर अटल साधना करना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। ये लोग कर्मको नहीं छोड़ते; कर्म ही इन्हें छोड़कर अलग हो जाते हैं। ऐसे लोगोंको एकान्तमें कभी आलस्य या विषय-चिन्तन नहीं होता। इनके भगवत्प्रेम-की सरितामें एकान्तसे उत्तरोत्तर बाढ़ आती है और वह बहुत ही शीघ्र इन्हें परमात्मारूपी महासमुद्रमें मिलाकर इनके स्वतन्त्र अस्तित्वको उन परमात्माके विशाल असीम अस्तित्वमें अभिन्नरूपसे मिला देती है। परंतु जिन लोगोंको एकान्तमें सांसारिक विक्षेप सताते हैं, वे अधिक समयतक कर्मरहित होकर एकान्तवासके अधिकारी नहीं हैं। जगत्‌में ऐसे ही लोग अधिक हैं। अधिकसंख्यक लोगोंके लिये जो उपाय उपयोगी होता है, प्रायः वही बतलाया जाता है—'यही नीति है। इसलिये शास्त्रोक्त सांसारिक कर्मोंकी गति भगवत्‌की ओर मोड़ देनेका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये, कर्मोंको छोड़नेका नहीं।

ऊपर कहा गया है कि 'अर्जुन गृहस्थ, क्षत्रिय और कर्मशील थे; इससे उनके लिये कर्मकी बात कही गयी है।' इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता केवल गृहस्थ, क्षत्रिय या कर्मियोंके लिये ही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुनरूप वत्सके व्याजसे ही विश्वको मिला; परंतु वह इतना सार्वभौम और सुमधुर है कि सभी देश, सभी जाति, सभी वर्ण और सभी आश्रमके लोग उसका अबाधितरूपसे पान कर अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार है, वैसे

ही गीताके भी सभी अधिकारी हैं। अवश्य ही सदाचार, श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है; क्योंकि भगवान्‌ने अश्रद्धालु, सुनना न चाहनेवाले, आचरणभ्रष्ट, भक्तिहीन मनुष्योंमें इसके प्रचारका निषेध किया है—(१८ । ६७)। भगवान्‌के आश्रित जन कोई भी क्यों न हों, सभी इस अमृतपानके पात्र हैं (१८ । ६८)।

यदि यह कहा जाय कि 'गीतामें तो सांख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओंका वर्णन है, भक्तिकी तीसरी कोई निष्ठा ही नहीं; तब गीताको भक्तिप्रधान कैसे कहा जा सकता है ?' इसका उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तिकी पृथक् निष्ठा भगवान्‌ने नहीं कही है, तथापि पहले यह समझना चाहिये कि निष्ठा किसका नाम है और क्या योग और सांख्यनिष्ठा उपासना बिना सम्पन्न हो सकती हैं। उपासना-रहित कर्म जड होनेसे कदापि मुक्तिदायक नहीं होते और न उपासना-रहित ज्ञान ही प्रशंसनीय है। गीताके मतमें भक्ति ज्ञान और कर्म दोनोंमें ओतप्रोत है। निष्ठाका अर्थ है—परमात्माके स्वरूपमें स्थिति। जो स्थिति परमेश्वरके स्वरूपमें भेद-रूपसे होती है, अर्थात् परमेश्वर अंशी और मैं उसका अंश हूँ, परमेश्वर सेव्य और मैं उसका सेवक हूँ'—इस भावसे परमात्माकी प्रीतिके लिये उसके आज्ञानुसार फलासक्ति त्यागकर जो कर्म किये जाते हैं, उसका नाम है 'निष्काम कर्मयोगनिष्ठा'; और जो सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थिति है, अर्थात् ब्रह्ममें स्थित रहकर प्रकृतिद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंको प्रकृतिका विस्तार और मायामात्र मानकर वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—यों निश्चय करके जो अभेद स्थिति होती है, उसे 'सांख्यनिष्ठा' कहते हैं। इन दोनों ही निष्ठाओंमें उपासना सम्मिलित है। अतएव भक्तिका तीसरी स्वतन्त्र निष्ठाके नामसे उल्लेख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि तब तो निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोगके बिना केवल भक्तिमार्गसे परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने केवल भक्तियोगसे परमात्माकी प्राप्ति स्थान-स्थानपर बतलायी है। साक्षात् दर्शनके सम्बन्धमें तो भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है कि अनन्य भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे वह नहीं हो सकता—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५४)

'शत्रुतापी अर्जुन! अनन्यभक्तिसे ही इस प्रकार चार भुजाओंवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेमें, तत्त्वसे जाननेमें, तथा प्रवेश करनेमें अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेमें आता हूँ।'

ध्यानयोगरूपी भक्तिका (१३ । २४ में) **'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति'** कहकर भगवान्‌ने और भी स्पष्टीकरण कर दिया है। इस ध्यानयोगका प्रयोग उपर्युक्त दोनों साधनोंके साथ भी होता है और अलग भी। यह उपासना या भक्तिमार्ग बड़ा ही सुगम और महत्त्वपूर्ण है। इसमें ईश्वरका सहारा रहता है और उसका बल प्राप्त होता रहता है। अतएव हमलोगोंको इसी गीतोक्त निष्काम विशुद्ध अनन्य भक्तिका आश्रय लेकर अपने समस्त स्वाभाविक कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ करने चाहिये।

ईश्वर-समर्पण-बुद्धि

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी ऐडवोकेट)

संसारमें दो प्रकारकी व्यवस्था हम देखते हैं—एक मनुष्योंद्वारा निर्मित, जिसे हम 'शासन-व्यवस्था' कहते हैं, जिसके अनुसार शासन हमारी सुख-सुविधाकी योजना करता है और बदलेमें हम शासनको कई प्रकारके कर देते हैं।

ठीक इसके विपरीत भगवान्‌की अपनी व्यवस्था है, जो बड़ी ही सरल, सुलभ और सस्ती है। भगवान्‌की इस व्यवस्थाका नाम 'भगवत्कृपा' है। अपने द्वारा दी हुई वस्तुओंका कोई भी मूल्य भगवान् हमसे नहीं लेते। भगवान् तो करुणानिधान हैं। उनकी अहैतुकी कृपा सदा हमपर बरसती रहती है। भगवान्‌के द्वारा हमें क्या-क्या प्राप्त है, हम इसे भूल जाते हैं और भगवान्‌का भी विस्मरण कर देते हैं। इतना ही नहीं, हम भगवान्‌की कृपापर टीका-टिप्पणी भी करने लग जाते हैं। एक लोककथा है, एक मुस्लिम सज्जन 'अल्लाह'की गलतियाँ बताने लगे और उनकी रचनाओंपर टीका-टिप्पणी करने लगे। मुस्लिम सज्जनने कुछ अन्य गलतियोंको बताते हुए एक गलती यह बतायी कि 'अल्लाहने कितनी बड़ी भूल की है, जो इतना विशाल आमका वृक्ष बनाया है, पर उसमें फल छोटे-छोटे लगाये हैं। दूसरी ओर उन्होंने खरबूजा, तरबूज और लौकीकी बेलें बनायी हैं, जिनमें बहुत पतली डालीपर बड़े-बड़े तरबूज, खरबूजे और लौकीके फल फलते हैं। अच्छा होता यदि अल्लाह छोटे-छोटे फल छोटे-छोटे वृक्षोंपर लगाते और तरबूज, खरबूजा और लौकी-जैसे फल आम-जैसे विशाल वृक्षोंपर लगाते।' उनकी यह दलील लोगोंको सुननेमें अच्छी लग रही थी। किंतु ठीक उसी समय आमके वृक्षसे एक पका आम उन सज्जनके सिरपर गिरा, जिससे उन्हें चोट आयी। तत्काल उनकी समझमें यह बात आ गयी कि यदि तरबूज-जैसा बड़ा फल मेरे सिरपर गिरा होता तो आज मेरा कचूमर निकल जाता। वे झट बोल उठे—'खूब शुद कि तरबूज न बूद'—अच्छा हुआ यह तरबूज नहीं था।

ये दो विधान हमारे समक्ष हैं—एक मानुषी विधान, दूसरा ईश्वरीय। इन दोनों विधानोंकी एक दूसरेके साथ तुलना कीजिये। मनुष्यकृत विधान कितना कटु, अपर्याप्त और परिणाममें दुःखदायी है, जब कि ईश्वरीय विधान कितना दयापूर्ण, पर्याप्त और सुखदायी है। यथार्थमें कोई तुलना ही दोनोंमें नहीं हो सकती।

यह एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ओर तो शासन जनताकी सुविधाके लिये जनतासे करके रूपमें कुछ द्रव्य लेता है, तभी वह जनताके लिये कुछ सुख-सुविधाकी व्यवस्था करता है। दूसरी ओर हमारी सुख-सुविधाके लिये भगवान्‌ने अनेकानेक वस्तुएँ हमें प्रदान कर रखी हैं और कर रहे हैं तथा अपनी दयाकी धारा सतत हमपर बरसा रहे हैं, किंतु इसके बदलेमें भगवान् हम-लोगोंसे कुछ भी नहीं लेते। ऐसी दशामें उनके प्रति मनुष्य—विवेकशील प्राणी होनेके नाते हमारा कोई कर्तव्य है या नहीं?

इस प्रश्नका उत्तर बहुत गहन और गम्भीर है। ईश्वर और जीवके सम्बन्धपर हमारे शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा गया है, उसके अध्ययनसे हमारा यही कर्तव्य समझमें आता है कि भगवान्‌से हम जुड़े रहें, उनसे विलग या विमुख न हों। भगवान्‌के साथ हमारा जितना निकटका सम्बन्ध होगा, भगवान्‌की करुणा, दया हमें उतनी ही मात्रामें प्राप्त होती जायगी। भगवान्‌के साथ हमारे सम्बन्धको 'उपासना' कहते हैं। 'उपासना'-का अर्थ है—'उप' अर्थात् निकट और 'आसन' अर्थात् स्थित होना। भगवान्‌के निकट होने-का नाम ही उपासना है। उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती; हम जो कुछ करेंगे, उसका फल हमें अवश्य मिलेगा। भगवान्‌ने जो आश्वासन दिया है, वह बड़ा विचारणीय है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

भगवान्‌की घोषणा है—"जो एक बार मेरी शरणमें आकर यह कह देता है कि 'भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ' और मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं सभी प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।" इतना होनेपर भी हममेंसे कितने व्यक्ति हैं, जो भगवान्‌की शरणमें जाकर उनसे रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। किसीसे यदि पूछा जाय कि 'क्या आप भगवान्‌का स्मरण करते हैं, निश्छल अन्तःकरणसे क्या आप भगवान्‌को पुकार करते हैं?' तो उसका उत्तर आपको नकारात्मक ही प्राप्त होगा। हमलोग शुद्ध अन्तःकरणसे भगवान्‌के सम्मुख कभी होते ही नहीं। 'यह काम हम कर चुके और अमुक काम हमें करने हैं' इत्यादि अनेकों बहाने हम उपस्थित करते रहते हैं। इस प्रकार हमारी भगवान्‌से कभी निकटता होती ही नहीं। भगवान् यह कभी नहीं चाहते कि जो काम हमें करना है, उसे हम न करें और केवल उनको ही स्मरण करते रहें। वे तो यही चाहते हैं कि अपने सारे कार्योंको हम यथावत् करते रहें, उनमें कोई त्रुटि न हो और साथ ही हम उनसे सम्बन्ध बनाये रहें। इसके लिये उन्होंने गीतामें सरल उपाय भी बतलाया है—

> **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
> **यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥**
> (९।२७)

'जो कुछ तुम करो, जो कुछ भी खाओ, जो भी हवन करो, जो कुछ दो या जो कुछ अपने धर्मके लिये कष्ट सहन करो: वह सब-का-सब मेरे (भगवान्‌के) अर्पण कर दो।' भगवान्‌के बताये इस ढंगसे चलनेपर ईश्वर-समर्पण-बुद्धिसे हमारे सारे-के-सारे कार्य तो होते ही रहेंगे, वे सफल भी होंगे और भगवान्‌के साथ हमारा सांनिध्य बना रहेगा। भगवान्‌से निकटता प्राप्त करनेका यह कितना सरल साधन है! इसके लिये कोई तप, जप या अनुष्ठान हमें करना नहीं है; सभी कर्तव्य करनेकी छूट है। आवश्यकता है केवल इस बातकी कि हम अपना काम ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करें। इस छोटी-सी बातको यदि हम अपने दिन-प्रतिदिनके कार्योंको करते समय याद रखें तो हममें और किसी संत-महात्मामें कोई अन्तर नहीं रह जायगा। मान लें हम पतित हैं; फिर भी भगवान्‌के इस प्रकारके सांनिध्यसे—भगवदर्पण-बुद्धिसे कार्य करनेकी प्रणालीसे हमको भगवान्‌को प्राप्त करनेमें बड़ी सरलता हो जायगी। भगवान् किसी व्यक्तिविशेषसे ही सम्बन्ध रखते हों, केवल साधु-महात्माओंके ही हाथोंकी कठपुतली हों—ऐसी बात कदापि नहीं है। सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति भी—यहाँतक कि दुराचारी भी उन्हें प्राप्त कर सकता है। उनकी घोषणा है—

> **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
> **साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**
> (गीता ९।३०)

यदि कोई दुराचारी व्यक्ति भी ईश्वरार्पण-बुद्धिसे अपने काम करता है या करनेका निश्चय कर लेता है तो भगवान्‌की दृष्टिमें वह साधु ही मानने योग्य है। भगवान् कोई खास नियम या विधान नहीं बतलाते हैं कि अमुक नियमपर सबको समानरूपसे चलना ही होगा, तभी वे हमको प्राप्त कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। यह कितनी छूट भगवान्‌ने हमलोगोंको दे रखी है। भगवान् अपनेतक पहुँचनेका सरल-से-सरल मार्ग सबके लिये बतलाते हैं—

> **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
> **मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥**
> (गीता ९।३४)

'तुम्हारा मन निरन्तर मुझमें लगा रहे, तुम निरन्तर श्रद्धासहित मुझको भजते रहो—मन, वाणी और शरीर-द्वारा मेरे परायण तो हो जाओ, मेरी पूजा-अर्चा करो, मेरे शरण होकर मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे शरण होकर—अपनेको मेरे साथ युक्त करके तुम मुझको अवश्य प्राप्त कर लोगे।' भगवान्‌के प्रति इस प्रकार सरल समर्पण होना चाहिये। यह संसार कर्मक्षेत्र है और कर्म करनेके लिये हम यहाँ भेजे गये हैं; किंतु हम जो कुछ करते हैं, उसे भगवत्-प्रीत्यर्थ नहीं करते, अपितु अपने स्वार्थके लिये करते हैं और इस प्रकार हम भगवान्‌को क्रमशः भूल जाते हैं। हमें चाहिये कि हम अपने कर्म भगवान्‌को समर्पण करके भगवत्-प्रीत्यर्थ करें।

एक महात्माका प्रसाद

'सत्सङ्ग' सफलताकी कुंजी है

प्रकृतिके परेके विधानसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि मानवका निर्माण मानवके अपने प्रयासका फल नहीं है; क्योंकि प्रयासका दायित्व मानव होनेके पश्चात् ही आता है। मानवका निर्माण उसीने किया है, जिसने सृष्टि रची है। यदि कोई यह कहे कि सृष्टिका निर्माता नहीं है, वह तो स्वतःसिद्ध है, तो मानना होगा कि सृष्टिका ज्ञाता होनेके कारण मानवका अस्तित्व सृष्टिसे पूर्व है। मानवको इस सृष्टिका कार्य न मानकर सनातन और अविनाशी मानना होगा। परंतु यह सभी विचारकोंका मत नहीं है। सृष्टिके ज्ञाताका अस्तित्व सृष्टिकी अपेक्षा अधिक सनातन और अविनाशी है; परंतु जो मानवको किसीकी रचना मानते हैं, उन आस्थावान् साधकोंके जीवनमें सृष्टि और मानवका कोई आश्रय तथा प्रकाशक है और वही सनातन सत्य है तथा सब प्रकारसे पूर्ण है। पूर्णके द्वारा निर्मित मानव प्राप्त विवेक, आस्था और बलके द्वारा शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति प्राप्त करनेका जन्मजात अधिकारी है।

जो मानव शान्ति, मुक्ति एवं भक्तिका अधिकारी है, उसको अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिये; क्योंकि शान्ति, भक्ति स्वतः सिद्ध तत्त्व हैं, उनकी उपलब्धिके लिये उनकी माँग ही अपेक्षित है। माँगकी पूर्ति पराश्रय तथा परिश्रमके द्वारा नहीं होती। पराश्रय एवं परिश्रमके द्वारा संकल्पोंकी पूर्ति होती है, किंतु अन्तमें संकल्प-अपूर्तिका अभाव ही शेष रहता है। इस दृष्टिसे सजग मानव अपना कोई संकल्प नहीं रखते। उन्हें जो वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य प्राप्त हैं, उनके द्वारा जगत् और जगत्पतिके संकल्प पूरे किये जा सकते हैं। जगत्पतिके नाते किया हुआ कर्तव्य-कर्म भक्ति प्रदान करता है और जगत्के नाते किये हुए कर्तव्य-कर्मसे मानव निस्संकल्प होनेके कारण शान्ति और सेवाभावसे की हुई प्रवृत्तिके द्वारा जगत्के रागसे रहित होकर जगदतीत जीवनमें प्रवेश पाता है। उसी कर्तव्य कर्मको जब आस्थावान् साधक प्रभुकी पूजाके भावसे करता है, तब वह प्रभु-प्रेम पाता है। इस दृष्टिसे मानवकी प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्तिमें विलीन होकर शान्ति, मुक्ति और भक्ति देती है। निवृत्तिमें भी एक अलौकिक शक्ति है, जिससे मानव जगत्के उद्गमको और अपनेमें अपने अविनाशी जीवन और अविनाशी जीवन-धनको पाकर कृतकृत्य होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानवका अपना कोई संकल्प नहीं रहता, केवल कर्तव्य-परायणता रह जाती है। कर्तव्य-परायणतासे मानव सभी विकारोंसे रहित हो जाता है और निर्विकारताकी भूमिमें ही योग, बोध, प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है। शान्ति मुक्ति-भक्तिमें हेतु है। अपना संकल्प ही अपनेको भोग, मोह और आसक्तिमें आबद्ध करता है, जो विनाशका मूल है। इस वास्तविकताका यथेष्ट अनुभव होनेपर मानव अपने सभी संकल्पोंका त्याग कर निस्संकल्प हो जाता है, अर्थात् उसके सभी संकल्प जगत् और जगत्पतिके संकल्पमें विलीन हो जाते हैं।

अपना संकल्प न रहना साधन है। जगत्के संकल्पोंको पूरा करना कर्तव्य अर्थात् सेवा है और प्रभुके संकल्पोंको पूरा करना पूजा है। जब अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब किसी विकारकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् निर्विकारताकी अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तवमें साधन है। जगत्के संकल्पोंकी पूर्तिसे जीवनमें उदारताकी अभिव्यक्ति होती है, जिससे मानव जगत्के लिये उपयोगी होता है। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग पूजा-भावसे करनेपर प्रभुसे आत्मीय सम्बन्ध सुदृढ़ तथा सजीव होता है, जिससे अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियताकी अभिव्यक्ति होती है और जीवन अनन्त रससे भरपूर हो जाता है। शान्तिसे उदित सामर्थ्य तथा ज्ञानके प्रकाशसे एवं प्रेमके रससे परिपूर्ण होना ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। इसी पवित्रतम उद्देश्यकी पूर्तिके लिये अनन्तकी अहैतुकी कृपासे मानव-जीवनका निर्माण हुआ है। मानवकी माँग सभीको है; क्योंकि उसके द्वारा सभीके अधिकार सुरक्षित होते हैं। इस दृष्टिसे मानव सर्वप्रिय है। मानवकी जो अपनी माँग है, उसकी पूर्ति सत्सङ्गसे होती है, जो उसका स्वधर्म है। स्वधर्मका सम्पादन 'स्व'के द्वारा ही होता है। उसके लिये किसी पराश्रय तथा परिश्रमकी अपेक्षा नहीं है। मानव-जीवनमें जो पराश्रय और परिश्रम दिखायी देते हैं, उनका उपयोग पर-सेवामें ही है। पर इस वास्तविकताका बोध तभी होता है, जब मानव इस तथ्यको अपना ले कि उसका कोई संकल्प नहीं है। यह

सर्वमान्य सत्य होगा कि मानवका अविभाज्य सम्बन्ध जगत् और उसके आश्रय तथा प्रकाशकसे है। तदनुसार जगत्‌के प्रति उदारता और उसके प्रकाशकके प्रति अनन्त प्रेम होना ही चाहिये। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव निज-ज्ञानके प्रकाशमें निर्मम, निष्काम एवं असङ्ग होकर स्वाधीन हो जाय और कर्तव्य-बुद्धिसे निस्संकल्प होकर प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता रहे। परिस्थितिके सदुपयोगसे ही सभी परिस्थितियोंसे अतीत, अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय और रसरूप जीवनसे अभिन्नता होती है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। इस कारण प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करनेमें मानव स्वाधीन है; परंतु प्रमादवश पराधीनतामें आबद्ध होनेके कारण वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग नहीं करता और अप्राप्तके चिन्तनमें आबद्ध हो जाता है, जो अहितकर है।

प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्यका सदुपयोग करना अनिवार्य है; पर उसके लिये सजगतापूर्वक निस्संकल्प होकर कार्य करना होगा। आवश्यक कार्य बिना किये कर्मके प्रति रागकी निवृत्ति नहीं होती। अनावश्यक कार्यका त्याग तभी हो सकता है, जब मानव यह स्वीकार करे कि जो भी वर्तमान कार्य है, वह भौतिकवादी दृष्टिकोणसे जगत्‌का और आस्तिकवादी दृष्टिकोणसे जगदाधारका है। व्यक्तिगत कार्य कुछ नहीं है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। परंतु असावधानीके कारण जब मानव कार्यके बदलेमें अपने लिये कुछ भी चाहता है, तब कर्तव्य-पालनमें अनेक दोष पैदा हो जाते हैं और फिर व्यक्तिगत जीवनमें अशान्ति एवं सामाजिक जीवनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं, जो किसी भी सजग मानवको अभीष्ट नहीं हैं। जिसका अपना कोई कार्य नहीं है, उसीके द्वारा जगत् एवं जगदाधारके कार्य सम्पन्न होते हैं। यह अनन्तका मङ्गलमय विधान है। अपना कोई कार्य नहीं है, इस वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये कार्यके आदि और अन्तमें विश्रामका सम्पादन अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प नष्ट हो जायँ और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे हो जायँ। संकल्प-निवृत्ति और संकल्प-पूर्ति—दोनों ही अवस्थाओंमें निस्संकल्पता स्थायी होती है। किंतु सजग मानवको निस्संकल्प स्थितिमें भी रमण नहीं करना है, अर्थात् उससे असङ्ग होना है। इसके होते ही मानव अपनेमें अपने अविनाशी जीवन तथा जीवन-धनको पाता है। इस वास्तविकतामें अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है। जीवन तथा जीवन-धन अपनेमें नहीं हैं, इस प्रकार माननेकी भूलसे ही मानव देहाभिमान तथा अनेक प्रकारकी पराधीनतामें आबद्ध हो जाता है, जिसका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

जगत् तथा जगदाधारके कार्यको अपना मान लेना भारी भूल है। इस भूलसे ही मानव कर्तव्य-पालनमें असमर्थताका अनुभव करता है और क्षुब्ध तथा क्रोधित हो जाता है। यदि प्राकृतिक विधानके अनुसार कोई भी कार्य अपना होता तो उसके द्वारा अभावका अभाव हो जाता, जो मानवकी वास्तविक माँग है। माँगकी पूर्ति विश्राममें है। विश्रामके सम्पादनके लिये कर्मके प्रति रागकी निवृत्ति अनिवार्य है। उस राग-निवृत्तिके लिये ही कर्तव्य-पालनका विधान है। क्रियाके रागकी निवृत्ति और सुन्दर समाजका निर्माण कर्तव्य-परायणतासे ही साध्य हैं। कर्तव्य-निष्ठ मानवका किसीपर कोई अधिकार नहीं है, अपितु उससे सभीके अधिकार सुरक्षित होते हैं। यह विशेषता मानवमें ही है। जब मानव अपने जीवनके महत्त्वको भूलता है, तब अधिकार-लोलुपतामें आबद्ध होकर कर्तव्यसे विमुख हो जाता है। बाह्य परिस्थिति परस्पर कितनी ही भिन्न क्यों न हो, किंतु मानव-जीवनके महत्त्वकी दृष्टिसे सब मानव बराबर हैं। मानव-जीवनका यह गौरव सुरक्षित रखना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव अपनेद्वारा ही अपने सत्यको अपनाये और भूलसे उत्पन्न हुए असत्‌का त्याग कर सत्‌का सङ्गी हो जाय।

'सत्सङ्ग' कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विचार तथा विश्वाससे साध्य जीवन-तत्त्व है। सत्सङ्गके बिना व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामूहिक समस्याओंका हल नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे सत्-सङ्गमें ही मानवके पुरुषार्थकी परावधि है। यदि यह कह दिया जाय कि सत्-सङ्ग ही एकमात्र सफलताकी कुंजी है तो अत्युक्ति न होगी, अपितु यही वास्तविकता है। वास्तविकताको अपनाकर प्रत्येक मानव मानव-जीवनके लक्ष्यको प्राप्तकर कृतकृत्य हो सकता है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

भगवान्‌में ममता-प्रीति हुई कब मानी जाय ?

संसार दुःखमय और अनित्य है। यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। मिथ्या ममता-आसक्ति करके जीवनभर मनुष्य दुःख तथा अशान्तिसे पिसता रहता है। यह बड़ा ही मोह है। श्रीभगवान्‌में ही ममता-आसक्ति हो जाय तो फिर इस दुःख तथा अशान्तिसे पिण्ड छूट जाय। भगवान्‌में ममता-प्रीति तभी हुई मानी जाय, जब दुःख-अशान्ति नामकी कोई वस्तु रह ही न जाय। प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌के सांनिध्यका अनुभव होता रहे और चित्त उनके प्रेमानन्द-रसमें डूबा रहे। नहीं तो बहुत बार हम भूलसे भगवान्‌के नामपर भी भोगासक्तिको बसा लेते हैं और उसका अवश्यम्भावी फल होता है—दुःख तथा अशान्ति। भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होनेपर यह सब रहता ही नहीं।

जगत्‌में मर जाय और भगवान्‌में जीवित रहे

मनुष्यका जीवन अत्यन्त क्षणभङ्गुर और अनित्य है; पता नहीं, कब समाप्त हो जाय। इसलिये यहाँकी ममता-आसक्ति समेटकर तैयार रहना चाहिये। जिसका जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंमें 'मैं-मेरा' मर गया, वह शरीरकी दृष्टिसे जीवित होनेपर भी वस्तुतः मर गया। यों जीते-जी मर जाना सर्वोत्तम है। मनुष्य जगत्‌में मर जाय और भगवान्‌में जीवित रहे। संसारकी किसी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका उसपर फिर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सदा-सर्वदा अपने भगवान्‌में घुला-मिला मस्त रहता है। ऐसा ही बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

विशुद्ध प्रेम

प्रेम-धन तो नित्य बढ़नेवाला होता है। यह उसका सहज स्वरूप है। जहाँ विशुद्ध प्रेम होगा, वहीं वह बढ़ता रहेगा, कभी होने या रुकनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं।

अपनेको कभी अभागा मानकर प्रभुकी परम आत्मीयतापर संदेह नहीं करना चाहिये

तुमने अपने मनमें मान-बड़ाईकी इच्छा, आसक्ति-कामना, हृदयकी क्षुद्राशयताकी बात लिखकर लिखा है—'भोग-वासनाभरे हृदयमें प्रभु-प्रेम कैसे रह सकता है, एक म्यानमें दो तलवारें कैसे रह सकती हैं।' तुम्हारा यह लिखना तो सत्य है; किंतु जिसने अपनेको भगवान्‌के समर्पण कर दिया है, उसकी सारी आसक्ति-वासना-कामनाको भगवान् स्वयं पवित्र करके प्रभु-चरणासक्ति, प्रभु-सुख-वासना तथा प्रभु-प्रेम-कामनामें परिणत कर लेते हैं। इसे कदापि असम्भव तो समझना ही नहीं चाहिये, कठिन भी नहीं। वरं यह विश्वास तथा निश्चय करना चाहिये कि 'मेरा जीवन—मेरा हृदय तो श्रीभगवान्‌का निवास-मन्दिर बन चुका है। उसमें अन्य कुछ रह ही नहीं सकता।' यदि कहीं कोई कूड़ेका कण होगा तो वह प्रभुके दृष्टिपातसे ही जल जायगा। अतः अपनेको कभी अभागा मानकर प्रभुकी परम आत्मीयतापर संदेह नहीं करना चाहिये। यह प्रत्यक्ष ही है कि भगवान्‌के सिवा दूसरे किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिकी न तुम इच्छा करते हो, न तुम्हें अन्य कुछ सुहाता है। एक दिव्य अनन्यनिष्ठाका;सागर तुम्हारे हृदयमें लहर रहा है। फिर उसमें किसी भी वासना-कामना, शरीरके मोह-लोभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदिके लिये

स्थान ही कहाँ है । वे सब तो कभीके डूब गये । अब यदि ये नामके लिये रह भी जायँ तो नाम चाहे ये ही हों, पर वास्तवमें प्रभुके साथ घुल-मिल जानेसे इन सबका स्वरूप बदल गया है । ये सब इन नामोंसे यदि बने हैं तो ये प्रभुकी लीलामें सहायक, सेवक लीलाके अङ्ग या उपकरणके रूपमें ही रहते हैं, बाधकके रूपमें नहीं—भगवान्‌के स्थानको छेंककर नहीं । अतएव तुम चाहे जहाँ रहो, तुम्हारे साथ भगवान् हैं । तुम्हारे अंदर कुछ भी दिखायी देते हों, ये सभी भगवान्‌की पवित्र लीलाके अङ्ग हैं, दोष नहीं—यह विश्वास तथा अनुभव करो ।

ऐसा भाग्य, ऐसा मन मिल जाय तो फिर और क्या चाहिये

जो भगवान्‌के सिवा दूसरी या दूसरेकी वाणी सुनना नहीं चाहता, जिसकी आँखें दूसरेको देखना नहीं चाहतीं, वाणी दूसरे शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहती, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवान्‌की रूप-सुधा-माधुरीका ही पान करना चाहता है, जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं जिसे अपने प्रेमाराम प्रभु ही दिखायी देते हैं, जिसके कानोंमें निरन्तर उनके पैरोंकी आहट और नूपुरध्वनि एवं मुरलीध्वनि ही सुनायी पड़ती हैं, जिसकी नासा सदा श्यामसुन्दरके अङ्ग-सुगन्धका आनन्द लेती रहती है, जिसके अङ्ग श्रीश्याम-सुन्दरके पवित्रतम मधुरतम स्पर्शका अनुभव करते हैं, जो सब कुछसे—दूसरोंसे दूर हो गया है, उसके मनकी स्थिति खराब है या अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह दुष्ट मन है या सर्वश्रेष्ठ मन—इसका निर्णय तो प्रभु ही करते हैं और उनके निर्णयका यही प्रबल प्रमाण है कि वे ऐसे भक्तके भक्त बने रहते हैं ! उसका दिया प्रत्येक पदार्थ महान् रसमय होता है और उसका आस्वादन करनेको भगवान् नित्य लालायित रहते हैं; उसकी चरण-धूलिसे वे अपनेको पवित्र हुआ मानते हैं । ब्रह्मा, शिव तथा नित्यवक्ष-विहारिणी लक्ष्मीसे भी उसको वे अधिक प्रिय मानते हैं ।

भगवान्‌के शब्द हैं—'अहं भक्त पराधीनः' (श्रीमद्भाग० ९ । ४ । ६३) मैं भक्तोंके वशमें हूँ । 'मयि ते तेषु चाप्यहम् ।' (गीता ९ । २९) 'वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ ।' 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।' (भागवत ९ । ४ । ६८) 'वे मुझको छोड़कर किसीको नहीं जानते और मैं उनको छोड़कर किसी अन्यको नहीं जानता ।' 'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।' (भागवत ११ । १४ । १६) 'मैं सदा उनके पीछे-पीछे चलता हूँ, जिससे उनकी चरणधूलिसे अपनेको पवित्र कर सकूँ ।' 'अश्नामि प्रयतात्मनः ।' (गीता ९ । २६) 'मैं भक्तोंकी दी हुई वस्तुका बड़े चावसे—प्रयत्नपूर्वक भोग लगाता हूँ ।'

ऐसा भाग्य, ऐसा मन मिल जाय तो फिर और क्या चाहिये । रही रोनेकी बात, इस सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है कि क्या पता, वह रोना हँसनेसे कहीं अधिक महान्, अधिक सुख देनेवाला हो । श्रीराधा तो कहती हैं—'मैं सदा रोती ही रहूँ और इस रोनेका भी श्यामसुन्दरको पता न लगे, नहीं तो वे दुखी होंगे ।' धन्य !

भगवान्‌के मनकी होती रहे, यही अपनी चाह हो

सदा-सर्वदा प्रभुकी राजीमें राजी रहकर उनकी हाँमें हाँ मिलाना चाहिये । उनके मनकी होती रहे, बस, यही एकमात्र अपनी चाह हो । तुम अपने मनमें बहुत प्रसन्न रहना । जरा भी खेद मत मानना । बहुत-बहुत प्रसन्न रहना—इस पदके भावोंपर ध्यान देना—

उनके होकर हम दुःखी हों तो उनको दुख पहुँचाते हम ।
उनके सुखमें यों बाधक बन, उनपर ही कलँक लगाते हम ॥

उनपर यदि है विश्वास हमें, तो क्यों इतना सकुचाते हम।
यों भय-विषादके अति वश होनेमें क्यों नहीं लजाते हम॥
हमको दुखी देखकर प्यारे तनिक दुःख यदि हैं पाते।
अति अपराधी, क्यों न हमारे सभी मनोरथ मर जाते॥
क्यों न सदा हम सुखी परम हों, उन्हें खूब सुख पहुँचाते।
क्यों न सदा प्रसन्न-मुख हँस-हँसकर हम उन्हें हँसा पाते॥
प्यारे, हँसो, रहो ही हँसते, तुमको खूब हँसायें हम।
प्यारे, सदा प्रसन्न रहो, तुमको अति सुखी बनायें हम॥
तन-मन-बुद्धि तुम्हारे सारे, इनको नहीं रुलायें हम।
वस्तु तुम्हारीको सुख देते संतत शुचि सुख पायें हम॥

हमारा नित्य-सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है

तुम सदा ही आनन्दमग्न रहा करो। मनमें कभी क्षोभ-दुःख आना ही नहीं चाहिये। शरीरके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है। तुम्हारा नित्य-सम्बन्ध तुम्हारे भगवान्‌के साथ है और वे नित्य-निरन्तर तुम्हारे साथ रहते हैं, साथ रहेंगे। तुम सदा निश्चिन्त रहकर निरन्तर उनके प्रसन्न मुख-कमलको देखते रहा करो।

सुखमयता भगवान्‌के प्रेम-रस-सुधा-सिन्धुमें ही है

तुम निरन्तर भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके प्रेम-सागरमें ही निमग्न रहो, यह मैं हृदयसे चाहता हूँ और जब जब तुम्हें इसमें डूबे पाता हूँ, तब चित्तमें बड़ी प्रसन्नता होती है। मन संसारमें आता है, तभी संसारके असह्य तापोंका अनुभव होता है। यह विषय-संसार तो सर्वथा और सर्वदा संतापमय ही है। शान्ति, सुख, शीतलता, मधुरता, अमरता, सुखमयता तो श्रीभगवान्‌के अनन्त असीम प्रेम-रस-सुधा-सिन्धुमें ही हैं।

प्रेम अन्तरमें पवित्र, दिव्य, कामनारहित होना चाहिये

हमलोग जितनी, जो कुछ अच्छी बातें किसीसे सीख सकें, अवश्य सीखनी चाहिये; पर सबके प्रेमका स्वरूप एक-सा नहीं हो सकता। सीताके प्रेममें श्रीरामके साथ जाना ही आवश्यक तथा शोभनीय था एवं ऊर्मिलाके आदर्श प्रेममें अपनेको साथ ले जानेकी बात निकालना भी अनुचित और अशोभन था। प्रेमका बाह्य रूप कैसा भी हो—अन्तरमें वह पवित्र, दिव्य, कामनारहित होना चाहिये। बाहरसे भी आदर्श तथा अनुकरण करनेयोग्य हो तो और भी उत्तम है।

प्रतिकूलताको लेकर दुःख या क्षोभ नहीं करना चाहिये

दूसरोंसे प्राप्त व्यवहारकी प्रतिकूलताको लेकर जरा भी मनमें दुःख या क्षोभ नहीं करना चाहिये। संसारमें सबके मन तथा सबकी रुचि एक-सी नहीं होती। जैसे हमारी घरवालोंसे भिन्न रुचि है, वैसे ही घरवालोंकी भी हमसे भिन्न है। अतएव यदि उनकी सभी बातें हमसे मेल नहीं खातीं तो हमें दुःख नहीं करना चाहिये।

तुम्हारा 'स्व' तुम्हारे भगवान् हैं

तुम सदा 'स्वस्थ' रहो। थोड़ी देरके लिये भी अस्वस्थ मत होओ। मैं तो यही चाहता हूँ। तुम्हारा 'स्व'—तुम्हारे भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं। बस, निरन्तर उनके चरणोंमें लगे रहो। वे चाहे उठाकर

हृदयसे लगा लें, चाहे चरणोंमें रखें, उनसे कभी दूर हटो ही मत । वस्तुतः उनकी यह स्वभाव-विवशता है कि वे अपने प्रेमीको छोड़ नहीं सकते । यहाँ उनकी भगवत्ता कुण्ठित हो जाती है । उन्हें इसमें एक ऐसा रस आस्वादन करनेको मिलता है कि उनकी रस-लालसा निरन्तर बढ़ती रहती है । उनका स्वभाव, बस, उन्हींका है—

'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ ।' (मानस ७ । १२३ । २)

सदा प्रसन्न रहना चाहिये

संसारके शरीरोंका संयोग-वियोग प्रारब्धाधीन है । और भगवान्‌के मङ्गल-विधानानुसार सब मङ्गल ही होता है । इसलिये सदा प्रसन्न रहना चाहिये ।

'पुराने पत्रोंसे संगृहीत'

आसन मार्‌यो पै आस न मारी !

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'दुनियामें कोई मुझसे प्रसन्न नहीं—न बाप न बेटा, न भाई न बहन, न बीवी न बच्चे । व्यर्थ गया मेरा इतना जीवन… !'

उस दिन हमारे एक साथी लगे अपने हृदयकी वेदना व्यक्त करने ।

विश्वविद्यालयोंकी ऊँची-से-ऊँची डिग्रियाँ इनके पास हैं; योग्यता है, ज्ञान है, अनुभव है । पर बेचारोंका भाग्य !

ऐन मौकेपर किस्मत धोखा दे देती है । इंटरव्यू (साक्षात्कार) में जाते हैं; पर भाग्यके चलते जब देखो पहला नंबर हाथसे निकल जाता है; दूसरा नंबर आ जाता है ।

क़िस्मत तो देखिये कि कहाँ टूटा जा कमंद,
दो-चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया !

× × ×

लाचार होकर गृहस्थीका गड्ढा पूरा करनेको वे नाना प्रकारके छिटपुट काम-धंधे करते हैं । यहाँ दौड़ते हैं, वहाँ दौड़ते हैं । फिर भी जब देखो अभावोंका रोना ।

हाँ, तो वे कहने लगे उस दिन—"आपसे क्या छिपा है, भाई साहब ! पिताजी बीमार पड़े । महीनों रात-दिन लगाकर उनकी सेवा और दवादारू की, तब कहीं किसी तरह चलने-फिरने लायक हुए । अभी थोड़े दिनोंसे छोटे भाईके पास हैं और वहाँसे लिखते हैं—'तू निरहंकार हो जा, हमारी यही कामना है ।'……'

"बड़े बेटा रामको पढ़ा-लिखाकर शादी कर दी । चार पैसे कमाने लगे तो बहूको लेकर अलग जा बसे । सारा किया-धरा पानी हो गया ।

"विधवा बहनको पढ़ा-लिखाकर कामसे लगाया । अब उसका मिजाज सातवें आस्मानपर रहता है ।

"बीवी-बच्चोंका भी वही हाल । मुँह अँधेरे उठकर रात-के बारह बजेतक रोज कोल्हूके बैलकी तरह काममें जुता रहता हूँ, पर उनकी फर्मायशें कहाँ पूरी हो पाती हैं । जहाँ कोई कोर-कसर रही कि शिकायतोंका दफ्तर खुल जाता है ।

"जीऊब गया है ऐसे जीवनसे, भाई, साहब ! जी चाहता है, बार-बार चाहता है, कि गोली मार दूँ इस गृहस्थीको । सब छोड़-छाड़कर चल दूँ—कहीं एकान्तमें ।…'

× × ×

यह कहानी हमारे एक साथीकी ही नहीं, हममेंसे बहुतों-की है । मैंने कहा उनसे—"क्या होगा एकान्तसे ? आपकी समस्या हल हो जायगी ? सच पूछो तो, भाई । आपका यह वैराग्य वैराग्य नहीं, यह है पलायनवाद । यह है परिस्थिति-से मुँह चुराना । इसीको कहते हैं—'श्मशान-वैराग्य' । परिवारवाले, स्त्री और पुत्र, भाई और बहन जहाँ अनुकूल हुए, जहाँ वे आपकी आशाओं और अपेक्षाओं-के अनुरूप बरतने लगे कि आपका वैराग्य हवा हो जायगा । है न ऐसी बात ?"

चर्चा बढ़ी तो साथी महोदयने कबूल किया कि सचमुच उनका यह वैराग्य बालूकी नींवपर है। अनुकूलताके अभावकी, घरवालोंसे आशा-अपेक्षाओंकी पूर्ति न होनेकी प्रतिक्रिया है यह।

× × ×

प्रत्येक मनुष्य सुखका कीड़ा है।

पैसेके माध्यमसे, परिवारके माध्यमसे, बाल-बच्चोंके माध्यमसे, मित्रोंके माध्यमसे उसे सुख चाहिये। सभीसे उसे अपेक्षाएँ रहती हैं। जब ये अपेक्षाएँ पूरी नहीं होतीं तो उसका जी खीझता है—कचोटता है।

और आशाएँ तथा अपेक्षाएँ ठहरीं द्रौपदीका चीर। एक पूरी हो नहीं पाती, दूसरी दस नयी तैयार।

बस, जी भीतरसे भिन्नाने लगता है—'क्या रखा है इस गृहस्थीमें !'

× × ×

सुरसाके मुँहकी भाँति दिन-दिन बढ़नेवाली हमारी आवश्यकताओंकी पूर्तिका एक साधन है—पैसा।

पैसा भरपूर न मिले, नौकरी छूट जाय, दूकानका दिवाला निकल जाय, व्यापारमें घाटा हो जाय, आयमें कमी पड़ जाय, आर्थिक तंगीसे मनुष्य बाल-बच्चोंकी अनिवार्य आवश्यकताएँ भी पूरी न कर सके—तो राणा-प्रताप-जैसा वीर-धीर-गम्भीर आदमी भी विचलित हो सकता है, साधारण आदमियोंकी तो बात ही क्या।

आर्थिक संकटके चलते कुछ लोगोंको जीवनसे विरक्ति हो सकती है, पर इसे 'वैराग्य' कहना वैराग्यका उपहास है।

'नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥'
(मानस ७। ९९। ३)

× × ×

जो हमारे आत्मीय हैं, प्यारे हैं, जिन्हें सुख देनेके लिये हम जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलाया करते हैं, जिनका साहचर्य हमें चाहिये, रात-दिन चाहिये—उनका बिछोह होनेपर भी कुछ लोगोंको वैराग्य हो जाता है।

अमेरिकाके एक धनीने माँके मरनेपर आत्महत्या कर ली। उसके पास तिजोरीमें पैसा था, घरमें बीबी थी, बच्चे थे; पर माँके प्रति उसके मोहका पार नहीं था।

घरवालोंने, मित्रोंने, डाक्टरोंने, मानस-चिकित्सकोंने दो-दो बार समझा-बुझाकर उसे आत्महत्यासे विरत किया, पर तीसरी बार उसने आत्महत्या कर ही ली। कहने लगा—'मम्मीके बिना मैं जिंदा रहूँ तो कैसे ?'

कुछ भावुक लोग प्रियजनोंके बिछोहमें पागल-जैसे बन जाते हैं। जीवनसे उन्हें घृणा हो जाती है। पर दुःखकी चपेटसे होनेवाला यह वैराग्य भी वैराग्य नहीं है।

× × ×

भयकी चपेटसे त्रस्त होकर भी कुछ लोग वैराग्यकी दिशामें मुड़ते हैं।

'भोगे रोगभयम्।' (वैराग्य० ११६)

भोग-रोगका जोड़ा है। वैद्यजी कहते हैं, रोगसे बचना है तो भोग छोड़ो। यह कड़वा काढ़ा पियो। परहेज है—तेल, मिर्च, गुड़, खटाई।

अब लीजिये—तेल गया तो सारी तली चीजें चली गयीं। पापड़ और नमकीन, तले साग और सब्जी आदि सब बंद।

मिर्च गयी तो सारे चटपटे पदार्थ—दही-बड़े और जायकेदार पदार्थ ही चले गये।

गुड़ गया तो गुड़की बनी सारी मिठाइयाँ—गायब हो गयीं !

खटाई गयी तो सारे अचार-मुरब्बे समाप्त। मतलब ?

इस परहेजके नामपर हमें वे सारे जायकेदार पदार्थ छोड़ने पड़ेंगे, जिनके लिये हमारी जीभ चौबीसों घंटे लपलपाती रहती है !

इतना ही नहीं ! वैद्यजीने पौष्टिक आहार तो छुड़ाया ही, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहनेका आदेश भी दे रखा है।

बीमारीका भय ऐसे अनेक प्रतिबन्ध लगा देता है।

× × ×

एक श्रीमतीजीको चीनीसे परहेजकी बात कहते सुनकर मैंने पूछा, 'बात क्या है ?' तो लोगोंने बताया कि उन्हें मधुमेहकी शिकायत है। ऐसे रोगियोंको चीनीसे वैराग्य लेना ही पड़ता है, वर्ना मामला गोल।

वैद्य और डाक्टर, हकीम और प्राकृतिक चिकित्सक—सभी अनेक रोगियोंसे स्पष्ट कह देते हैं कि 'स्वास्थ्य बनाये रखना है, जिंदा रहना है तो शराबसे, सिगरेटसे और अमुक-अमुक चीजोंसे किनाराकशी करनी ही होगी । आगे मर्जी तुम्हारी । मरना हो, मरो !'

स्वास्थ्यनाशके भयसे होनेवाला यह वैराग्य मजबूरीका सौदा है। 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।' (गीता २।५९) विषय भले ही छूट जायँ, पर उनका रस ? राम कहिये ।

× × ×

डंडेके डरसे भी कुछ लोग अवैध कर्मोंसे वैराग्य ले लेते हैं ।

कांस्टेबलका 'बेटन' हमें नैतिकताकी सीख देता है । वह सड़कके चौराहेपर न खड़ा हो तो उल्टी पटरीपर जानेसे हमें कौन रोक सकता है ।

चोरी और डकैती, खून और कत्ल, हिंसा और व्यभिचार, धोखेबाजी और जालसाजी, अन्याय और अत्याचारसे कुछ लोगोंको पुलिसका डंडा ही विरत करता है, राजदण्ड ही दूर रखता है ।

राजका दण्ड, जेल और जुर्माना, कालापानी और फाँसीका फंदा बहुतोंको पापकर्मोंसे विरत करनेमें सहायक होता है ।

डंडेके डरसे होनेवाला यह वैराग्य भी असली वैराग्य नहीं है ।

× × ×

'लोग क्या कहेंगे, मुहल्लेवाले क्या कहेंगे, पास-पड़ोसी क्या कहेंगे, समाज क्या कहेगा, बिरादरीवाले क्या कहेंगे ?'—इस डरसे भी कुछ लोग निन्दनीय कर्मोंसे विरत हो जाते हैं ।

हम गलत काम करेंगे, हम नशेमें बुत होकर नालियोंमें पड़े रहेंगे तो लोग हमें नीची नजरसे देखेंगे, हमारी प्रतिष्ठा, कुल-मर्यादा धूलमें मिल जायगी—ये सब डर भी मनुष्यको विषयोंसे वैराग्यकी कुछ प्रेरणा देते रहते हैं ।

पर सामाजिक भयसे होनेवाला ऐसा वैराग्य भी वास्तविक वैराग्य नहीं है ।

× × ×

और रौरव और कुम्भीपाकका डर ?

वैतरणी, असिपत्रवन, लालाभक्ष, महारौरव आदि नरकोंका भय ! यह भय भी तो लोगोंको वैराग्यकी ओर ले जाता है ।

पुरस्कार और दण्डकी मनोवैज्ञानिक पद्धति बच्चोंके शिक्षणमें प्रयुक्त की जाती है ।

धर्मशास्त्रकार भी कम मनोवैज्ञानिक नहीं थे । उन्होंने भी व्यवस्था दे दी—शुभकर्मोंका पुरस्कार—स्वर्ग, बहिश्त, जन्नत, हैवेन, लोक-परलोकमें आनन्द-ही-आनन्द, सुख ही सुख !

अशुभ कर्मोंका दण्ड—नरक, दोजख, हेल्के ! कष्टोंकी क्रीड़ाभूमि ।

पढ़िये गरुड़पुराणमें नरकोंका वर्णन । रोंगटे खड़े हो जायँगे । काशीके तीर्थयात्री इन नरकोंके भयावने चित्र प्रायः यहींसे खरीदकर घर ले जाते हैं । उनका अपना प्रभाव पड़ता ही है ।

सेठ गोविन्ददासका उदाहरण मौजूद है ।

लिखा है उन्होंने अपनी आत्मकथामें कि किस प्रकार गरुड़पुराणके बीभत्स और भयंकर वर्णनोंने उन्हें पतनके मार्गपर पैर रखनेसे रोका ।

× × ×

यों वैराग्यके एक नहीं, अनेक कारण हैं ।

पर प्रायः ऐसे सभी कारणोंसे होनेवाला वैराग्य टिकता कम है । अनुकूल वायुका झोंका आते ही वैराग्य कपूरकी भाँति हवामें उड़नछू हो जाता है ।

जबतक मनमें किसी भी प्रकारकी आशा और आकाङ्क्षा रहती है, कामना और वासना रहती है, भोगकी हल्की-सी भी लिप्सा रहती है, तबतक लाख स्वाँग करिये, वैराग्य पास फटकनेवाला नहीं ।

घर-बार, बाल-बच्चे, धन-दौलत, मान-प्रतिष्ठाको तिलाञ्जलि देकर जंगलमें धूनी रमानेवालोंमें भी सच्चे वैरागी बहुत कम होते हैं । सुन्दरदासने ठीक ही कहा है—

ग्रेह तज्यौ, अरु नेह तज्यौ, पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी ।
मेह सहे सिर, सीत सह्यौ तन, धूप समै जु पँचागिनि बारी ॥
भूख सही रहि रूख तरै परि सुंदरदास सहे दुख भारी ।
डासन छाँड़ि कै काँसन ऊपर आसन मार्यौ पै आस न मारी॥

आसन तो मारा—पर—'आस न मारी !'—मूल समस्या तो यही है ।

श्रीकन्हैयालाल मुंशीने गीताकी अपनी विवेचनामें एक फकीरका वर्णन किया है । वह फकीर पड़ा रहता था एक मस्जिदमें । जाड़ा हो, गर्मी हो, बरसात हो—वह नंग्र-धड़ंग प्रकृतिकी सारी चपेटें बर्दाश्त करता रहता था ।

पर एक दिन वह दिखायी पड़ा हवालातमें ।

बात क्या हुई ?

कुछ नहीं । लड़कोंकी वानरी सेना——शरारतका अवतार होती ही है । उन्होंने फकीरपर कुछ ढेले-कंकड़ चला दिये । बस, तितिक्षावान् सहिष्णु फकीर असहिष्णु बन बैठा । झपटकर उसने एक बच्चेको पकड़ा और पटक ही तो दिया—इस बुरी तरहसे कि बेचारा 'टें' बोल गया !

× × ×

मनुष्य सब कुछ छोड़कर जंगलमें जाकर आसन लगाता है, मन्दिर-मस्जिद-गिरजामें पूजा-उपासना करता है, काशी और काबेमें आराधना करता है—फिर भी वह आशाका परित्याग नहीं करता । उसकी आशा नहीं छूटती । आशाको वह मार नहीं पाता—

'आसा-तृस्ना ना मरै, मरि-मरि जात सरीर ।'

× × ×

और जबतक आशा नहीं मरती, तबतक क्या योग, क्या तप, क्या साधना और क्या वैराग्य ।

बाल-बच्चेदार गृहस्थ परीशान है कि इस मँहगीमें वह ईमानदारीसे किस प्रकार बच्चोंको दो समय रोटी जुटा पाये । फक्कड़ फकीर परीशान है कि गुदड़ीमें जो चीलर और जुएँ पड़ गये हैं, उनके दंशसे किस प्रकार छुटकारा मिले । बाबा-जी परीशान हैं कि मठके लिये उन्होंने जिस जमीनकी माँग की है, उसपर तहसीलदारने कोई कानूनी ऐतराज पेश कर दिया है । स्वामीजी परीशान हैं कि फलाँ स्वामीको प्रणाम करने फलाँ राज्यका मुख्यमन्त्री भी आता है और मेरे पैरं छूने उसका चपरासी भी नहीं आता !

स्पष्ट है—गृहस्थ हों संन्यासी, साधु हों या फकीर, पुजारी हों या महंत, राजा हों या रईस, जबतक लोग-सुत-वित्त-लोककी ईषणाओंके जालमें फँसे हैं, आशा और तृष्णाके झोंके खा रहे हैं, तबतक वैराग्य कहाँ ।

बीबी-बच्चोंके लिये, रुपये-पैसेके लिये, नाम-प्रतिष्ठाके लिये, पद और सम्मानके लिये, पूजा और चढ़ावेके लिये जबतक मनमें आशा लगी है—तबतक वैराग्य कोसों दूर है ।

वैराग्यकी पहली सीढ़ी है—आशाका त्याग, अपेक्षाका त्याग, तृष्णाका त्याग, कामनाका त्याग, वासनाका त्याग ।

यह त्याग जबतक नहीं है, तबतक चाहे घरमें रहिये, चाहे वनमें, चाहे कंठी पहनिये चाहे गुदड़ी—उससे कुछ बननेवाला नहीं । तबतक दुःखोंका चक्र मनुष्यका पीछा छोड़ेगा नहीं ।

× × ×

महात्मा कबीरदासके इस पदमें अनुभव ही तो बोल रहा है—

या जग सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया हो ।
राजा-परजा, रंक-धनी नर, अधमाधम या मुखिया हो ॥
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तपसीको दुख दूना हो ।
आसा-तृस्ना सब घट ब्यापै, कोई महल नहिं सूना हो ॥

एक सहज प्रश्न उठता है—'तब उपाय क्या है ?'

उपाय भी कबीरने बताया है—

'सुखिया मनके जीते हो ।'

जबतक संसारकी आसक्ति है, संसारके प्राणी-पदार्थोंसे सुख पानेकी आशा है, तबतक दुःख हमारा साथ छोड़नेवाला नहीं, भले ही हम अपनेको साधु और वैरागी ही क्यों न कहते रहें ! आशा और अपेक्षा, तृष्णा और कामना छोड़ते ही वैराग्य आता है और वैराग्य ठहरा आनन्दका समुद्र । तभी तो कहा है—

'कस्य सुखं न करोति विरागः ।' (मोहमुद्गर ७)

इस सुखका एकमात्र मार्ग है—आशाका त्याग । मारिये आशाको, बेड़ा पार है !

चेतावनी

हरि के नाम कौ आलस क्यौं,
करत है रे, काल फिरत सर साँधें ।
हीरा बहुत जवाहर संचे,
कहा भयौ हस्ती दर बाँधें ॥
बेर-कुबेर कछू नहिं जानत,
चढ़ौ फिरत है काँधें ।
कहि 'हरिदास' कछू है न चलत, जब
आवत अंत की आँधें ॥

—स्वामी हरिदास

गृह-दीप बुझते जा रहे हैं !

(लेखक—श्रीरामबाबजी 'कुमुद')

हमारे शास्त्रोंने गृहस्थाश्रमको धन्य कहा है—धन्य इसलिये कि वही आश्रम-धर्मकी रीढ़ था। उससे अन्य तीनों आश्रमोंको बल मिलता था। वह व्यक्तिमें समष्टि-धर्मकी प्रयोगशाला था। वह सभ्यता और संस्कृतिका मेरुदण्ड था। वह एक ऐसी इकाई था, जिसके गर्भमें अगणित दहाइयाँ अँगड़ाई लेती थीं। वह एक ऐसा दीपक था, जिसमें स्नेह स्वयं जलकर दूसरोंको प्रकाश देता था। मानव-संस्कारोंकी प्रथम रङ्गस्थली। परंतु आज वह विवर्ण है, अपनेमें खोया और लुटा हुआ।

अनेक मतों, वादों और सिद्धान्तोंके होते हुए भी एक तथ्य हम चतुर्दिक् देख सकते हैं कि आज भी संसारका विशाल बहुमत विवाहित जीवन व्यतीत करनेवाला है। असाधारण वृत्तिके बुरे-भले आदमियोंको छोड़कर विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह मानव-जीवनका एक सामान्य और प्रायः निश्चित-सा कार्य बन गया है। यह जीवनका एक सत्य है।

क्यों है यह जीवनका सत्य ? इसलिये कि वह जीवनका कवच है। वह हमें अनेक बुराइयोंसे बचा लेता है, जीवनके युद्धमें हमें शक्ति देता है—मेरा प्रयोजन यह है कि बचा सकता है, शक्ति दे सकता है। जब हमारा मन अगणित उत्तेजनाओंसे थक जाता है, तब वह हमें थपकियाँ देकर शान्त कर देता है। जब हम वासनाओंसे प्रकम्पित होते हैं, यह हमारे चरण पकड़ लेता है। इसके कारण हजारों अकर्मण्य जीवनके वीर सैनिक बन गये हैं, लाखों मानसिक संतुलन खोनेसे बच गये हैं। इसने उच्छृङ्खल यौन अतिचारोंपर अङ्कुश रखा है, इसने जीवनके लुब्धक मिथ्याचारोंमें डूबनेसे हमें रोक लिया है।

आजके संघर्षसे भरे जीवनमें, जब हमारे चतुर्दिक् ईर्ष्या-द्वेष-दम्भका बवंडर उठ रहा है, जब हमारी सूनी कातर आँखें करुणाके सुखद स्पर्शके लिये व्याकुल हैं, जब मित्रोंकी पहचान करना कठिन हो रहा है, जब जीविकोपार्जनकी अगणित कठिनाइयोंमें पड़ा मानव पग-पगपर निराश और अप्रतिभ होता है—खीझता है, जब उसके साहसके पाँव उखड़ जाते हैं और आकाङ्क्षाएँ दम तोड़ देती हैं, तब कुछ ही क्षणके लिये सही, जहाँ तप्त वालुका-भूमिमें शीतल जलकी फुहार मिल जाती है, दो मधुर बोल और तुम्हारे दुःख-कष्ट एवं चिन्ताको तुमसे छीन लेनेकी उत्कण्ठा जहाँ है, वह घर ही है। अपनी समस्त विवशताओंके साथ भी, यान्त्रिक सभ्यता, संघर्ष और आर्थिक दुष्प्रेरणाओंसे दिन-दिन टूटते घर आज भी पृथ्वीपर स्वर्ग हैं।

× × × ×

जीवन-युद्धमें थके, संध्याके समय लौटते हुए अपनेको देखो। आज काम ज्यादा करना पड़ा, दम मारनेकी फुर्सत न मिली, फाइलमें एक गलती हो गयी, साहबकी डाँट पड़ी, मन खट्टा हो गया है। कारखानेमें आज साथीके न आनेसे काम इतना करना पड़ा कि शरीर चूर है; दुकान-पर आज सेठसे कहा-सुनी हो गयी है, या आज शरीर थका-थका-सा और मन बोझिल है। पग रास्ता नहीं काटते, लगता है, रास्ता ही पगोंको काटता हो; साहस और उमंग सो गये; चित्त भ्रान्त, अशान्त है; दिल बैठा-बैठा-सा लगता है। परंतु लौटना है, और लौट रहे हो घरकी ओर।

और एक नारी, जिसके जीवनकी समस्त उमंगें, समस्त आशाएँ तुममें ही सिमटकर रह गयी हैं—तुम्हारी थकावटको अनुभव करनेवाली, स्वयं गृहकार्योंमें थकी होकर भी, द्वारपर तुम्हारी प्रतीक्षामें दो अबोले, तुम्हारे स्नेहमें उमड़े, नयन बिछाये खड़ी है। तुम्हारे दृग् मिलते हैं, और हृदय, टूटता हृदय फिर उभरता है; निराशापर मौन प्यारकी एक थपकी जीवनको टूटनेसे बचा लेती है। जब दुनियामें और कोई तुम्हारा नहीं है, तब भी वह है—यह भावना पुरुषमें विद्युत्की भाँति कौंधकर उसे पुनः शक्तिसे पूरित कर देती है। कोई तुम्हारी राह देखनेवाला है, तुम्हींमें समाया हुआ—यह भावना जीवनके समस्त विषोंपर अमृतकी भाँति छा जाती है। जीवनको आगे बढ़ानेकी प्रेरणासे मन-प्राण पूरित हो उठते हैं।

× × × ×

तुम कहोगे, इस भावुकताके वर्णनसे दुनिया नहीं चलती; यह कविताकी भाषा है, जीवनके कठोर तथ्योंकी नहीं। मैं

मानता हूँ। मैं मानता हूँ, गृहस्थ-जीवनमें भी शत-शत वृश्चिक-दंशोंवाली जिह्वा मिलती है; फूलोंका कलेजा मसलनेवाले तुषारपात भी वहाँ होते हैं; जब हम वर्षाकी आशा कर रहे होते हैं तो सूखा पड़ जाता है और जब हल्की चाँदनीमें मन विभोर हो रहा होता है, तब भयानक कड़कड़ाहट होती है, उल्कापात होते हैं और तूफ़ानोंसे जीवनका क्षितिज भर जाता है। परंतु ये बातें तो गृहस्थ-जीवनके बाहर भी होती हैं। अविवाहित सम्बन्धोंमें इनका अनुपात कुछ अधिक ही होता है। वहाँ भी कल्पनाओं और स्वप्नोंकी छाती फट जाती है और गहरी खाइयाँ दिलोंके बीच एकाएक निकल आती हैं। सामान्य विवाहित गृहजीवनमें ऐसे आकस्मिक उल्कापात कम ही होते हैं।

गृहजीवनका अपना सिरदर्द भी अवश्य है। यह औसत मानवी भावनाओं एवं प्रेरणाओंका जीवन है; यह ब्यौरेका, तफसीलका जीवन है। यह सब मैं मानता हूँ; किंतु यही उसका सौन्दर्य भी है—यह सरलता, यह हृदयकी भाषा, जहाँ घुमाव नहीं है; अटपटे, तरल शब्द सीधे दिलसे ओठोंपर आनेवाले,—अगणित प्रसाधनोंका माध्यम जहाँ उन्हें बीचमें ही रोक नहीं लेता। तुम्हारी गरीबी यहाँ घृणास्पद नहीं है; तुम्हारा धन नहीं, धनी यहाँ काम्य है; कोरे हाथ नहीं, अबोली भावनाएँ, स्नेहके शत-शत अदृश्य वरदान आँखोंमें लिये अन्नपूर्णा यहाँ तुम्हारा स्वागत करती है। चाञ्चल्य, विच्छिलता, मृगजलकी भ्रमपूर्ण प्रफुल्लता, रहस्यमयी क्षणिक मादकता यहाँ नहीं है।

मैं जानता हूँ कि आजका मानव मादकता चाहता है। संघर्षमें मदिरा उसे खींचती है और अपने आँचलके चञ्चल आन्दोलनोंसे थपकियाँ देकर उसे सुला देती है। तुम सोते हो, क्षणभरके लिये अपनेको भूल जाते हो। परंतु क्या यह जीवनके प्रश्नों और समस्याओंका समाधान है? क्या यह उनसे और इसीलिये अपनेसे भी भागना नहीं है? मदिरा अपनी मूल्यवान् वेषभूषामें, कीमती टेबुलोंपर, कीमती और रंगीन पात्रोंमें तुम्हें लुभा ले, क्षणभरको अचेत कर दे; किंतु शीतल, सुखद और बेदाम जलके बिना—जिसे ठीक ही देववाणीमें 'जीवन' कहा गया है—आदमी कब जी पाया है? वही अमृत, वही जीवन, जिसकी कुछ शीतल बूँदोंके छींटे बेहोश मानवको चैतन्य कर देते हैं, तुम्हें यहाँ मिलेगा। किंतु इसके लिये जरा गहराईमें पैठना होगा। अरे आँखें बंद करके चलनेवाले मानव! प्रेमकी योगिनी, सतत आत्मदानसे विश्वको ऊर्जस्वल करनेवाली, अन्नपूर्णा-सी इस गृहकी नारीको देख। महामायाका, जगदम्बाका घर-घरमें प्राप्त अवतरण।

इसीलिये कह रहा था कि गृहस्थ-जीवन पृथ्वीका स्वर्ग है।

किंतु आज?

वह नरक बनता जा रहा है।

क्यों?

इसलिये कि पति और पत्नी, पुरुष और स्त्री, जो मिलकर घरका निर्माण करते हैं, आजके भोगप्रधान जीवनकी आँधियोंमें पड़कर असाधारणरूपसे चञ्चल और विकृत होते जा रहे हैं। पुरुष है कि नारीके वास्तविक महत्त्वको, उसके विराट् रूपको भूल गया है। वह उस वरदानका रहस्य समझनेकी मानसिक स्थितिमें नहीं है, जो नारी अपने साथ उसके लिये, उसकी संततिके लिये लाती है। वह उसे केवल शरीर-तुष्टिका साधन बनाता जा रहा है। उसके पास दृष्टि नहीं, प्रेरणा नहीं और शायद समय एवं मनःस्थिति भी नहीं कि गहरी सहानुभूतियों एवं निजत्वसे भरे उसके विराट् अन्तर्मनको स्पर्श करे; रससे भरे मनको, जो सहानुभूतिके एक स्पर्शसे द्रवित हो उठता है और पारिजातकी भाँति अपने जीवन-पुष्पको चरणोंमें उँडेल देता है। इसका परिणाम यह है कि शरीरकी तुष्टि भी नहीं हो पाती। यान्त्रिक मिलन मात्र होकर रह जाता है। दोनों अतृप्त, खोये, खीझसे भरे रह जाते हैं।

उधर नारी अन्तरमें पुरुषके प्रति प्राकृतिक जातीय संवेदनाओंसे भरी, किंतु परम्परासे भयत्रस्त, शिक्षासे या तो गतानुगतिक अथवा फिर मिथ्या दम्भ और विद्वेषसे विकृत अनिश्चितता और शङ्काओंके झंझावातमें अस्थिर है। आत्मदानकी प्रेरणा अशक्त हो गयी है और पानेकी आकाङ्क्षा बढ़ी हुई है। स्वभावतः आजके भयंकर जीवन-संघर्षमें, आर्थिक अवपीडनके इस युगमें उसमें निराशाएँ उत्पन्न होती हैं, धक्के लगते हैं; उमंगोंके तन्तु टूट जाते हैं, सपने अस्थिर हो जाते हैं। वह पतिके प्रति अनुरागसे भरी, उसमें खोयी न होनेके कारण मिलकर भी अलग रह जाती है, एक होनेपर भी उसमें द्विधा है। यह जीवनसे जीवनका मिलन नहीं, जीवन-खण्डोंका मिलन है। कुछ खण्ड मिलते हैं, कुछ ज्यों-के-त्यों स्तब्ध पड़े रह जाते हैं और कुछ प्रतिकूल दिशाओंमें अग्रसर हो जाते हैं।

और जब हमारे पास प्रेमकी वह पूँजी न हो, जो जीवनकी सब कठिनाइयोंको चुनौती देनेकी शक्ति रखती है, तब छोटी-छोटी बातें भी बड़ी होने लगती हैं। जरा-सा उलाहना, जरा-सा आदिष्ट स्वर तीर-सा कलेजेमें लगता है। बातोंमें बातें पैदा होती हैं, मन खराब होता है और फिर तो व्यथाओंकी दुनिया अपने-आप बनने लगती है। जीवन नरक हो जाता है।

क्या यह नरक स्वर्ग नहीं बन सकता ? थोड़े संयम, थोड़ी समझदारीसे सब हो सकता है। यदि दोनों एक-दूसरेके लिये जीना सीखें तो सब हो सकता है। केवल दृष्टिका अभाव है। जीवनमें नारी और पुरुष आज जिन मूल्योंको अपना रहे हैं, उनसे सुविधाओंमें वृद्धि हो सकती है, किंतु उनसे आनन्द नहीं खरीदा जा सकता।

दुःख तो यह है कि शताब्दियोंकी अपनी साधनामें नारीने जो दीप गृह-प्रकोष्ठमें जलाये थे—तिमिरावरणको चुनौती देनेवाले दीपक, तुलसीके चौरेपर रखनेके लिये अञ्चलकी छायामें ले जाये जा रहे दीपक, देवार्चनके लिये जल रहे घृतके दीपक और सबके ऊपर आँधीमें, पानीमें, दुःखमें, सुखमें आमरण जलनेवाले स्नेहके दीपक बुझते जा रहे हैं—एक-एक करके बुझते जा रहे हैं। मरणका अन्धकार जीवनको निगलता जा रहा है और हमारे दीपक बुझते जा रहे हैं; क्षितिजपर आँधियाँ उमड़ती आ रही हैं और हमारे दीपक बुझते जा रहे हैं; पतनकी खाइयाँ मुँह बाये हमारी ओर दौड़ी आ रही हैं और हमारे दीपक बुझते जा रहे हैं—गृहके दीपक, स्नेहके दीपक, निष्ठाके दीपक, श्रद्धाके दीपक, अर्चनाके दीपक, साधना और शीलके दीपक।

दया-अम्बुसे धोना होगा मेरा जीवन !

[विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'दया दिये हवे गो मोर जीवन धूते' गीतका भावानुवाद]

दया-अम्बुसे धोना होगा मेरा जीवन।
न तो भला, क्या छू पाऊँगा तव पद पावन॥
दया तुम्हारीसे धोना होगा मम जीवन।

तव पूजनका थाल उठाते,
प्रकट समस्त कलुष हो जाते,
अतः न कर पाता चरणोंपर प्राण-विसर्जन॥
दया तुम्हारीसे धोना होगा मम जीवन।

व्यथा न कोई भी जागी थी मुझमें अबतक॥
अङ्ग-अङ्ग था गया मलिनतासे मेरा ढक।
आज विमल उस अङ्क हेतु, पर,
विकल हृदय मरता क्रन्दन कर,
मत देना, मत देना करने अब रज-लुण्ठन।
दया तुम्हारीसे धोना होगा मम जीवन।
न तो भला क्या छू पाऊँगा तव पद पावन॥

—माधवशरण

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

कम-से-कम बोलकर काम चलायें और शेष समय मशीनकी तरह भगवान्‌का नाम लें

श्रीसीताजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए हनुमान्‌जी महाराज कहते हैं—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥
(मानस ५। ३०)

'रात-दिन नामका पहरा लगा हुआ है, ध्यानके किवाड़ बंद हैं एवं अपने ही चरणोंमें नेत्रोंका लगा रहनारूप ताला बंद है, इसीलिये श्रीसीताजीके प्राण नहीं निकल पा रहे हैं।'

यह श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी कोरी कल्पना नहीं है, श्रीरामजीके विरहमें श्रीसीताजीकी वास्तविक अवस्थाका वर्णन है। श्रीभगवान्‌ने अपनी ह्लादिनी शक्तिके द्वारा यह आदर्श स्थापित करवाया है कि हमसे बिछुड़े भक्तकी यही दशा होनी चाहिये। आप भी प्रभुसे बिछुड़े हुए हैं, अतः आप भी इस दशाको प्राप्त करनेकी सुन्दरतम अभिलाषाको लेकर नामका पहरा लगा दीजिये। कंजूसके धनकी तरह वाणीका संयम कीजिये। अनावश्यक बिल्कुल मत बोलिये। कामके लिये बोलते समय भी यह ध्यान रहे कि कम-से-कम बोलकर काम चलाया जाय और शेष समय मशीनकी तरह नाम लें। आप अध्यापक हैं, आप विद्यालय जाइये; पर कक्षामें पढ़ाते समय ध्यान रखिये कि जिस समय चुप रहनेका अवसर हो, उस समय नाम लेने लगें। लज्जा छोड़ दीजिये। वहाँके लोग ढोंगी कहेंगे अथवा प्रशंसा करेंगे, इस विचारको छोड़ दीजिये। दृढ़तासे उद्देश्य स्थिर करके प्रभुके चरणोंको पकड़िये। इसीमें जीवनकी सार्थकता है। जिस सुन्दर भावको लेकर आप साधनामें प्रवृत्त हुए हैं, जैसा सुन्दर मधुर सम्बन्ध आपने प्रभुके साथ स्थापित किया है, उसे एक क्षणके लिये भी कलुषित और ढीला मत कीजिये। अब इस सम्बन्धको निभानेके लिये ही जीना और मरना है।

मनसे एवं मानसिक देहसे अपने प्रियतमकी सेवा कीजिये

भगवान्‌के चरणोंकी साक्षात् नित्य सेवा जिस देहसे होती है, वह देह आपको प्राप्त नहीं है। यह देह पाञ्चभौतिक है, नश्वर है, मल-मूत्रसे भरा है, गंदा है। इसकी ओरसे उपराम हो जाइये। लालसा कीजिये उस देहकी, जिसको पाकर नित्य-निरन्तर उनके चरणोंमें बैठकर उनकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त हो। जबतक वह देह नहीं मिलती, तबतक वाणीसे, मनसे एवं मानसिक देहसे उनकी सेवा कीजिये, बड़ी लगनसे कीजिये। वही आपका असली भजन है। वाणीसे प्रियतमका नाम लीजिये, मनसे लालसा कीजिये तथा उस देहकी ओर ध्यान रखिये एवं अभ्यास कीजिये कि मनका प्रत्येक संकल्प उनकी सेवाकी भावनासे सना हुआ हो। उनकी कृपाका आश्रय करके अपनी पूरी ताकत लगा दीजिये। वे देखेंगे और आपकी व्याकुलता देखकर उनके हृदयमें अनुरागकी लहरें उठने लगेंगी—उनके हृदयमें चाह होने लगेगी आपसे मिलकर आनन्द लेनेकी और आप निहाल हो जायँगे।

जगत्‌की परिस्थितियोंके हेर-फेरको खेल समझकर देखते चले जाइये

आप शिक्षक हैं और विद्यालयकी स्थिति बड़ी विचित्र है, यह माना; परंतु विद्यालय ही क्या, आपको चाहिये सारे जगत्‌की परिस्थितियोंके हेर-फेरको बिल्कुल गौणतम कर दें। भगवान्‌ने जैसे रच रखा है, वही होगा और उसीमें सबका मङ्गल है। सिनेमा-हाउसमें जिस प्रकार

रील घूमती रहती है और एक-पर-एक दृश्य बदलते रहते हैं, उसी प्रकार विश्वास रखियेगा कि फिल्म घूम रही है। एकके बाद एक दृश्य आ रहे हैं। बस, इन्हें खेल समझकर देखते चले जाना चाहिये। खूब विश्वास रखिये—जिस फिल्मके ऑपरेटर, संचालक, मैनेजर मङ्गलमय भगवान् हैं, उसका पर्यवसान किसीके न चाहनेपर भी जो होनेवाला है, वह तो होकर ही रहेगा। फिर चिन्ता क्यों करें। चिन्ता तो, बस, हरिनामकी करनी है। ये बातें केवल कथनमात्रकी नहीं हैं। मनुष्य भगवद्दयापर विश्वास करके इन्हें अनुभव कर सकता है। अतएव किसी भी प्रकारकी परिस्थितिमें किंचिन्मात्र भी विचलित न होकर भगवान्‌की ओर ही बढ़नेकी चेष्टा करें।

एक बात और है। विद्यालयसे आपका सम्बन्ध सच पूछें तो यही है कि इसके द्वारा आपकी रोटीका प्रश्न हल होता है। बस, इसके सिवा आपको उससे क्या लाभ है? थोड़ी देरके लिये कल्पना करें कि परिस्थितिसे बाध्य होकर आपलोगोंको विद्यालय छोड़ देना पड़े; पर इससे आपका क्या बनता-बिगड़ता है? विश्वास रखिये—यदि भगवान्‌की मर्जी है कि आपलोगोंको भोजनाच्छादन अच्छी तरहसे प्राप्त होता रहे तो जगत्‌में ऐसा कोई पैदा नहीं हुआ है, जो इसे बंद कर सके। किंतु यदि उनकी मर्जी है कि आपलोगोंको भूखों मरना पड़े तो जगत्‌में ऐसा कोई भी नहीं है, जो आपलोगोंको खिला सके। भले ही पूर्णरूपसे न हो, आंशिकरूपसे आपने उस सर्वेश्वरकी शरण ली है। इस आंशिक शरणागतिका मूल्य थोड़ा नहीं है। आपलोगोंको भगवान्‌के सिवा और किसीका मुँह जोहनेकी जरूरत नहीं है।

सत्यपर स्थित रहियेगा। जगत्‌का प्रलोभन चाहे कितना भी आकर्षक क्यों न हो, सत्यसे न हटियेगा। आवश्यकता पड़नेपर मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिये, किंतु सत्यका आश्रय नहीं छोड़ना चाहिये। जितनी मात्रामें आपके पास दृढ़ भगवद्विश्वास रहेगा, उतनी ही मात्रामें आप सत्यपर भी दृढ़ रह सकेंगे—यह बात भी ध्यानमें रखेंगे।

आपने जीवनके अन्तिम समयमें भगवत्स्मृति होनेकी बात लिखी है। यह खूब ध्यान रहे कि यदि कोई साधनके बलपर अन्त-समय भगवान्‌को याद कर लेनेका दावा करे तो मेरी समझमें वह भूल करता है। अन्त-समयमें भगवत्स्मृति होना एकमात्र भगवत्कृपासापेक्ष है। इसलिये भगवत्कृपाका अवलम्बन करके आप निरन्तर प्रसन्न रहें और यह विश्वास रखें—'प्रभु अत्यन्त दयामय हैं, वे मेरी वाचिक शरणागतिकी अवहेलना नहीं करेंगे। चाहे मैं कितना ही अधम क्यों न होऊँ, अन्त-समयमें वे मुझे स्वयं आकर ले जायँगे।'

निराश न होकर भगवान्‌की ओर बढ़ चलें

बिल्कुल निराश न होकर श्रीभगवान्‌की ओर बढ़ चलें। सचमुच बढ़नेकी इच्छा रखनेवालेको प्रभु बुला लेते हैं। जगत्‌के किसी हेर-फेरसे चकित होनेकी आवश्यकता नहीं। जो कुछ होता है, भगवान्‌का रचा हुआ होता है। आपके न चाहनेपर भी वह होकर ही रहेगा। उसे कोई टाल नहीं सकता। इसलिये यहाँसे अपनी दृष्टि सर्वथा मोड़ लेनी चाहिये और अधिक-से-अधिक भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये। अन्यथा इस जगत्‌को देखकर कभी हँसना और कभी रोना पड़ेगा ही।

एक बात और है। जहाँतक हो, प्रपञ्चके काममें कम पड़ियेगा; नहीं तो भगवान् गौण हो जायँगे और प्रपञ्च मुख्य।

भगवान्‌का नाम यदि नहीं भूले तो सब ठीक हो जायगा। यही सबसे मुख्य बात है।

प्रार्थना

मैं तुम्हारा शरणागत हूँ, इसलिये निश्चिन्त हूँ

मेरे आराध्य !

वेद-शास्त्रोंमें तुम्हारी प्राप्तिके अनेकों साधन वर्णित हैं तथा संत-महात्माओंने भी एक-से-एक सुगम, स्वानुभूत उपायोंका निर्देश किया है; किंतु ऐसे किसी साधन-पथपर अग्रसर होना तो दूर रहा, मैं तो अभीतक अपने लिये किसी निश्चित साधन-प्रणालीका चयन भी नहीं कर पाया हूँ।

विशुद्ध ज्ञानको तुम्हारी प्राप्तिका साधन बतलाया गया है, परंतु मेरी तो जगत्‌के मिथ्या विषय-भोगोंमें सुख-भ्रान्तिरूप अज्ञानकी निवृत्ति भी नहीं हो सकी है। आसक्तिशून्य-कर्म-कौशलको तुम्हारी प्रसन्नताका हेतु कहा गया है; इधर मैं तो अभीतक दुष्कर्मोंकी ओर प्रवृत्तिका भी त्याग नहीं कर पाया हूँ। निष्काम एवं अनन्य भावसे उपासना करनेसे तुम्हारी कृपाकी अविलम्ब प्राप्ति होनेकी बात सुनी जाती है, किंतु मैं तो अभी विभिन्न कामनाओंकी लहरोंमें ही डूब-उतरा रहा हूँ। ऐसी स्थितिमें, मेरे स्वामी! तुम्हीं कहो, मेरे उद्धारका उपाय तुमने कौन-सा निश्चित किया है ? मुझे तुम्हारे चरण-तलोंकी प्राप्ति किस रीतिसे सम्भव होगी ?

जब-जब मैं हमारे पारस्परिक सम्बन्धकी कल्पना करने बैठता हूँ, तब अनेक विचार मेरे मनमें छा जाते हैं। मैं अवश्य पाप करता हूँ, परंतु मेरे पापोंका दण्डदाता दूसरा भले ही कोई हो, तुम तो कदापि नहीं हो सकते। तुम, भला, दण्ड देना क्या जानो। तुम तो अपराधीमात्रको प्यारसे गले लगा लेना जानते हो।

मैं कुमार्गगामी हूँ, कुप्रवृत्तियों तथा कुटेवोंका चिर अभ्यासी हूँ। तुम मेरे परमसुहृद् हो, तुम्हें सही मार्गका ज्ञान भी है तथा तुम पथ-निर्देश करना भी जानते हो, इसपर भी मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम मेरे साथ उपदेशकका शुष्क, प्रेमहीन नाता कदापि स्थापित नहीं करोगे। तुम तो मार्गभ्रष्ट मुझको अपनी मधुर बाँसुरीकी तानसे मोहित करके ही कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गपर ले आओगे।

तब मेरा-तुम्हारा परस्पर क्या नाता है ? मैं अपने मनकी बात बताऊँ ? सच पूछो तो मैं तुम्हारा शरणागत हूँ, तुम मेरे अभयदाता हो। मैं तुम्हारा चरणाश्रित हूँ, तुम मेरे योग-क्षेमको वहन करनेके लिये, मुझे अपने स्वरूपका, अपनी ऐकान्तिक प्रीतिका दान करनेके लिये कृत-प्रतिज्ञ हो। मैं तुम्हारे द्वारका याचक हूँ, तुम अपना सर्वस्वका दान दे डालनेवाले उदार दानि-शिरोमणि हो।

मुझे तुम्हारे सम्मुख यह प्रकट करनेमें तनिक भी संकोच नहीं है कि मेरी स्थिति अधम-से-अधम है। तुम मेरी पतित-से-पतित अवस्थाको अपरिवर्तित देखकर भी कभी उद्विग्न नहीं होते हो। मेरी प्रत्येक दयनीय दशा तुम्हारे हृदयमें अधिकाधिक कृपा एवं करुणाका ही संचार करती रहती है।

जैसे एक रोगी कुशल चिकित्सकके समक्ष अपनी व्याधिकी गम्भीरताका प्रकाश निस्संकोचभावसे कर देता है, अपनी दुर्बलताओं तथा आशङ्काओंका चित्रण भी बिना किसी हिचकके कर डालता है, उसी रीतिसे मैं भी अपनी सम्पूर्ण दुर्दशा तुम्हारे सम्मुख निवेदन करके निश्चिन्तता-लाभ कर लेता हूँ। मेरी दुरवस्था जान लेनेपर मुझे उबारनेका दायित्व स्वतः ही तुमपर आ जाता है।

जैसे एक अबोध छात्र अपनी अज्ञान दशाको अपने शिक्षा-गुरुके सामने प्रकट करते लज्जित नहीं होता, जैसे एक अनजान यात्री अपने मार्गदर्शकके सम्मुख अपनी जिज्ञासाएँ रखते हुए सकुचाता नहीं, वैसे

ही तुम मेरी जीवन-यात्राके कर्णधार हो, तुम्हें मेरी असमर्थताओंका ज्ञान है—यह विश्वास मुझे निश्चिन्त बना देता है।

मेरी कोई हीनता, असमर्थता अथवा अपात्रता मेरे तुमतक पहुँचनेमें बाधक नहीं बन सकती; क्योंकि तुम्हारी सामर्थ्य अपार है। मेरी कोई भी अधोगामिनी प्रवृत्ति तुम्हारी उद्धार-क्रियामें रुकावट नहीं डाल सकती; क्योंकि तुम्हारा औदार्य अनुपमेय है।

मेरे उदार शरणदाता! मैं तुम्हारी बलिष्ठ भुजाओंके आश्रयमें पूर्णतया सुरक्षित हूँ। मैं तुम्हारा शरणागत हूँ, अतएव प्रत्येक परिस्थितिमें परम निश्चिन्त हूँ।

—तुम्हारा ही अपना एक

स्वामी सहजानन्द

(लेखक—श्रीरामलाल)

स्वामी सहजानन्द भागवतोत्तम थे। उन्होंने सनातनधर्मके संरक्षण; वर्णाश्रम-मर्यादाके पालन तथा भागवतधर्मके परिशीलनद्वारा विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दीके दूसरे चरणमें सौराष्ट्रप्रदेशमें ही नहीं, उत्तरप्रदेश तथा भारतके अन्य प्रदेशोंमें भी मधुर भगवद्भक्तिसे प्राणान्वित आध्यात्मिक क्रान्तिका प्रवर्तन कर जन-जीवनको नवजागरणसे सम्पन्न किया। उन्होंने देशको अधोगतिकी ओर जानेसे बचा लिया। उनकी 'शिक्षापत्री'के उपदेशोंको अपने जीवनमें श्रद्धापूर्वक चरितार्थकर तथा भागवतधर्मका आश्रय ग्रहणकर असंख्य लोगोंने (गृहस्थों, त्यागियों तथा संन्यासियोंने) मुक्ति और भक्तिका अपने-अपने आश्रमकी मर्यादाके अनुसार रसास्वादन किया। उनके समकालीन स्वामी ब्रह्मानन्दने उनका दर्शन कर अपने आपको परम सौभाग्यशाली समझा था। उनका उद्गार है—

'आज नी घड़ी धन्य छे,
मे आजे सहजानन्दने निरख्या छे।
× × × ×
ए सहजानन्दने निहाळताँ मारी
आँखड़ी ठरी छे।'

महाराज सहजानन्दने कृपापूर्वक धर्म, ज्ञान, भक्ति और वैराग्यका मर्म समझाकर लोगोंको आध्यात्मिक जीवन अपनानेकी सीख दी। स्वामिनारायण-सम्प्रदायमें वे हरि, कृष्ण, हरिकृष्ण, श्रीहरि, सरयूदास, नीलकण्ठ, सहजानन्द, स्वामिनारायण और नारायणमुनि आदि नामोंसे प्रख्यात हैं। स्वामी सहजानन्द विक्रमकी उन्नीसवीं शताब्दीकी अप्रतिम भागवत विभूति थे। उनका परम पवित्र भागवतचरित्र—भगवद्भक्तिमय जीवन सर्वथा-सर्वदा अभिवन्द्य है।

स्वामी सहजानन्दके परम पवित्र चरित्रकी यह अलौकिकता है कि वे आजीवन—बचपनसे शरीर-त्यागकी अवधितक भगवान्की सहज भक्तिके अभिमुख रहे। उनके जन्म-कर्म—सब-के-सब भागवत धरातलपर दिव्य थे। अयोध्याके संनिकट छपिया (छपैया) ग्राममें स्वामी सहजानन्दने जन्म लिया था। अयोध्याके उत्तरका भूमिभाग सरवार प्रदेश कहलाता है। इसमें सरयूपारीण अथवा सरवरिया ब्राह्मण निवास करते हैं। इस प्रदेशमें भगवती मनोरमाके तटपर मखोड़ा नामक तीर्थसे आठ मील उत्तर छपिया ग्राम स्थित है। इस ग्राममें निवास करनेवाले हरिप्रसाद पाण्डेय अपनी पत्नी प्रेमवतीके साथ वृन्दावन तीर्थयात्राके लिये गये थे। वृन्दावनमें उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था। तीर्थयात्रासे वापस आनेपर संवत् १८३७ वि०की रामनवमीको दस बजे रातमें दम्पति श्रीकृष्णके कृपा-प्रसादके रूपमें एक दिव्य शिशुके जन्मसे गौरवान्वित हुए। नवजात शिशुका नाम घनश्याम रखा गया, जो आगे चलकर सहजानन्दके रूपमें प्रसिद्ध हुए। घनश्यामके पितामह पहले इटारग्रामके निवासी थे, जो उन्हें स्थानीय श्रीनेतवंशीय शासकसे प्राप्त हुआ था, इसलिये

घनश्यामके पिता निवास करनेके लिये छपिया आनेपर इटारब्राह्मणकी उपाधिसे प्रसिद्ध थे।

घनश्यामके माता-पिताने अयोध्याको अपना निवास-स्थान बनाया। थोड़ी ही अवस्थामें घनश्याम विद्याध्ययनके द्वारा समस्त शास्त्रोंमें पारंगत हो गये। कहा जाता है कि आठ सालकी ही अवस्थामें उन्होंने वेद आदि शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया था। जब वे ग्यारह सालके थे, उनकी माँने स्वर्गकी यात्रा की तथा छः माहके बाद पिताने भी शरीर-त्याग कर दिया। घनश्यामके मनमें सांसारिक वस्तुओं और सम्बन्धोंके प्रति सहज अनासक्ति उमड़ आयी। उन्होंने संवत् १८४९वि०की आषाढ़ शुक्ला दशमीको अपने दोनों भाइयों—रामप्रताप और इच्छारामके कंधोंपर घरके प्रबन्धका भार रखकर वैराग्यका वरण कर लिया। वे घरसे बाहर निकल पड़े। वे भगवती सरयूको पारकर उत्तर-दिशाकी ओर चल पड़े और हिमालयकी ओर बढ़ते गये। इस कठोर वैराग्य-अवस्थामें उन्होंने अपना नाम नीलकण्ठ रखा। उन्होंने पुलहाश्रममें आकर मुक्तिनाथका दर्शन किया। चार मास वहाँ निवास कर वे हिमालयकी तराईमें दक्षिणकी ओर गये। एक अरण्यमें उन्होंने गोपाल-नामक योगीका दर्शन किया। उन्होंने योगीसे एक वर्षतक योगाभ्यास सीखा। उसके बाद वे बंगालकी ओर चल पड़े। इस यात्रामें उन्होंने वाम-मार्गका खण्डन किया। वे जगन्नाथपुरी, आदिकूर्म, वेंकटाद्रि, शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, श्रीरङ्गक्षेत्र, रामेश्वरधाम, धनुष्कोटि आदिका भ्रमण करते हुए पंढरपुर पहुँच गये; वहाँ भगवान् पाण्डुरङ्ग विट्ठलके लीलाक्षेत्रमें दो मासतक निवास कर नासिक होते हुए काठियावाड़में आ गये।

गुजरात प्रदेशके लोज नामक स्थानमें स्वामी रामानन्दका आश्रम था। स्वामी रामानन्दने गुजरातमें आध्यात्मिक और धार्मिक जागृतिका नेतृत्व किया था। श्रीनीलकण्ठके मनमें उनके दर्शनकी उत्कट इच्छा थी। स्वामी रामानन्द उद्धवके अवतारके रूपमें प्रख्यात थे। उनके पूर्वाश्रमका नाम रामशर्मा था। उन्होंने १७९५वि०की जन्माष्टमीको अयोध्यामें जन्म लिया था। उनके पिता अजयप्रसाद थे तथा माताका नाम सुमति था। रामशर्मा उच्चकोटिके भगवद्भक्त थे। तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें वे काठियावाड़ आये और द्वारका आदि तीर्थोंका भ्रमण करते हुए बंवा ग्राममें रहनेवाले स्वामी आत्मानन्दके शिष्य हो गये। उनका नाम रामानन्द रखा गया। स्वामी आत्मानन्द केवलाद्वैत मतके अनुसार निर्गुण ब्रह्मके उपासक थे। रामानन्द भक्त थे। वे दूसरे गुरुकी खोजमें तत्पर हो गये। उन्होंने श्रीरङ्गक्षेत्रमें आकर रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैत मतमें निष्ठा प्रकट की। आचार्य रामानुजने उन्हें स्वप्नमें दर्शन देकर श्रीकृष्णके दर्शनके साधन बताये। वैष्णवी दीक्षा प्राप्तकर स्वामी रामानन्द सौराष्ट्रमें विचरण करने लगे। नीलकण्ठ उनके दर्शनके लिये लोज आये। लोज स्वामी रामानन्दका मुख्य स्थान था। वहाँ मुक्तानन्द तथा उनके दूसरे शिष्य रहते थे। मुक्तानन्दके शिष्य सुखानन्दने नीलकण्ठसे पूछा—'आप कहाँसे आये हैं।' उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि 'मैं ब्रह्मपुरसे आया हूँ, ब्रह्मपुर जाऊँगा। जो मुझे वहाँ ले जायँगे, वे ही मेरे माँ-बाप हैं।' इस उत्तरसे सुखानन्द बहुत प्रसन्न हुए। उनकी प्रेरणासे स्वामी मुक्तानन्द-ने स्वामी रामानन्दको पत्र लिखा कि 'ब्रह्मचारी नीलकण्ठको देख-कर मेरे मनमें बड़ी शान्ति होती है। वे तरुण होकर भी असाधारण रूपसे योगनिष्णात हैं। वे जीवन्मुक्त हैं।...'स्वामी रामानन्दने उनकी श्रद्धा और निष्ठासे प्रसन्न होकर संवत् १८५७ वि०-की कार्तिक शुक्ला एकादशीको उन्हें भागवती दीक्षा प्रदान की और वे नारायणमुनिके नामसे प्रसिद्ध हुए। उन्हें स्वामी सहजानन्द भी कहा जाने लगा। स्वामी रामानन्दके १८५८ वि०के मार्गशीर्ष मासकी शुक्ला त्रयोदशीको वैकुण्ठ प्राप्त करनेके बाद स्वामी सहजानन्दने असंख्य जीवात्माओंको भवसागरसे पार उतारनेके लिये उनका उत्तरदायित्व सँभाला। उन्होंने विशिष्टाद्वैतपरक स्वामिनारायण-सम्प्रदायकी स्थापना की। उन्होंने घोषणा की कि 'मेरा मत विशिष्टाद्वैत है। मेरा इष्टधाम गोलोक है। श्रीकृष्ण-सेवा और मुक्ति-प्राप्ति ही हमारा परम आध्यात्मिक उद्देश्य है।'

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥

(शिक्षापत्री १२१)

उन्होंने अपने सम्प्रदायके सत्सिद्धान्तका निरूपण करते हुए कहा कि 'मन्दिरोंमें मेरे द्वारा प्रतिष्ठापित श्रीलक्ष्मीनारायण आदिके विग्रहोंकी यथाविधि पूजा-सेवा होनी चाहिये'—

मया प्रतिष्ठापितानां मन्दिरेषु महत्सु च।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि॥

(शिक्षापत्री १३०)

स्वामी सहजानन्दने भगवत्प्राप्तिके मार्गमें निष्कामता, निर्लोभता, निर्मानता, निस्स्वादता और निःस्नेहता—पञ्चव्रतके

गान्के महान् साधन स्वीकार किया और लोगोंको इन्हें अपने जीवनमें चरितार्थ करनेकी सत्प्रेरणा प्रदान की। उनकी प्रेरणाके परिणामस्वरूप स्थान-स्थानपर मन्दिर बन गये और असंख्य प्राणी भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति कर कृतार्थ हो उठे।

अपने स्वामिनारायण सम्प्रदायके प्रचारका उत्तरदायित्व स्वीकार करनेके समयसे अट्ठाईस सालतककी अवधिमें उन्होंने बड़ी तत्परतासे लोगोंको भागवत जीवन अपनानेकी सीख दी। धीरे-धीरे स्वामी सहजानन्दका शरीर शिथिल होने लगा; पर संयम और व्रतपालन आदिमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आने पायी। जीवनके अन्तिम दिनोंमें उन्होंने व्रत-उपवासका क्रम अधिकाधिक बढ़ा दिया, मौन धारण कर लिया तथा वे संसारसे उदासीन और सर्वथा अनासक्त हो गये। भक्तों और अनुयायियोंकी भीड़ दूर-दूरसे उनके दर्शनके लिये उमड़ पड़ी। उन्होंने अपने सभी दर्शनार्थियोंको बताया कि 'सदा अपने धर्ममें स्थिर रहना चाहिये।' सन् १८३० ई०की अट्ठाईस जून (ज्येष्ठ मासकी शुक्ला एकादशी)को स्वामी सहजानन्दने दिव्य भगवद्धाममें प्रवेश किया। वे भागवतधर्मके महान् शिक्षक थे। उन्होंने सनातनधर्म और ऐकान्तिक (शुद्ध भागवत) धर्मका संरक्षण किया।

स्वामी सहजानन्दकी साधना और सिद्धान्तके सर्वेक्षणकी आधारशिला उनकी 'शिक्षापत्री' है, जिसमें उनके द्वारा समर्थित भागवतधर्म तथा संरक्षित वर्णाश्रम-मर्यादाका समीचीन विश्लेषण उपलब्ध होता है। उनकी शिक्षापत्री केवल उनके द्वारा समर्थित विशिष्टाद्वैत-दर्शन और तदनुकूल जीवन-यापनकी ही नहीं, अपितु शास्त्रसम्मत भागवतधर्मकी अक्षर आचारसंहिता है। शिक्षापत्रीमें उन्होंने सम्पूर्ण भक्ति-सिद्धान्तका सार भर दिया है। उसमें स्वामी सहजानन्दकी विज्ञप्ति है कि "किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। अहिंसा परम धर्म है। सभीको अपने-अपने वर्णाश्रमकी मर्यादाका पालन करना चाहिये, यही सनातन धर्मका स्वरूप है। जिन ग्रन्थोंमें ईश्वरके स्वरूपका खण्डन हो, उन्हें प्रमाण नहीं मानना चाहिये। श्रुति-स्मृति और सदाचारके द्वारा ही धर्मके स्वरूपका बोध होता है। परमात्माके माहात्म्यज्ञानपूर्वक उनमें आत्यन्तिक स्नेह होना ही 'भक्ति' है। जीव, ईश्वर और मायाके स्वरूपको जान लेना ही 'ज्ञान' है।" शिक्षापत्रीके अतिरिक्त उनके उपदेशोंका संग्रह 'वचनामृत' नामक ग्रन्थमें भी प्राप्त होता है। स्वामी सहजानन्दका कथन है कि 'हमारे आश्रित स्त्री-पुरुष, जो हमारी शिक्षापत्रीके उपदेशके अनुसार जीवन-यापन करेंगे, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धि प्राप्त करेंगे।'

स्वामी सहजानन्दने पाखण्ड और दम्भका खण्डन किया तथा सामाजिक जागरणकी भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'स्त्री और धनमें आसक्त जो पुरुष भक्ति अथवा ज्ञानका आश्रय लेकर पाप-कर्ममें तत्पर रहते हैं, उनका किसी भी स्थितिमें सङ्ग नहीं करना चाहिये।'

भक्तिं वा ज्ञानमालम्ब्य स्त्रीद्रव्यरसलोलुभाः।
पापे प्रवर्तमानाः स्युः कार्यस्तेषां न संगमः॥

(शिक्षापत्री २८)

उन्होंने भगवद्भक्तिमयी प्रवृत्तिको निरन्तर अक्षुण्ण रखनेके मार्गमें भगवान्के मन्दिरमें जाने तथा राधिका-पतिके नाम-कीर्तन और उनकी कथा-वार्तामें संलग्न रहने और आदरपूर्वक उन्हें सुनने तथा बाजेके साथ श्रीकृष्ण-कीर्तनोत्सव करनेको महान् साधन स्वीकार किया है। उनके वचन हैं—

भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम्।
नामसंकीर्तनं कार्यं तत्रोच्चै राधिकापतेः॥
कार्यास्तस्य कथावार्ताः श्रव्याश्च परमादरात्।
वादित्रसहितं कार्यं कृष्णकीर्तनमुत्सवे॥

(शिक्षापत्री ६३-६४)

उन्होंने सच्छास्त्रोंका सारतत्त्व अच्छी तरह उद्धृतकर शिक्षापत्रीकी रचना की। उन्होंने संवत् १८८२ वि०में शिक्षापत्री लिखी थी—

सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी॥
विक्रमार्कशकस्याब्दे नेत्राष्टवसुभूमिते।
वसन्ताद्यदिने शिक्षापत्रीयं लिखिता शुभा॥

(शिक्षापत्री २०४, २११)

स्वामी सहजानन्दके कार्यको उनके अनुयायियोंने भी आगे बढ़ाया। स्वामी गोपालानन्दने उनके सत्सिद्धान्तके प्रकाशमें श्रीमद्भगवद्गीताका भाष्य लिखा। स्वामी नित्यानन्दने 'हरि-दिग्विजय' ग्रन्थकी रचना कर उनके वेदान्त-

सिद्धान्तका विशिष्टाद्वैतपरक मर्म समझाया । शतानन्द और वासुदेवानन्द ब्रह्मचारीने 'सत्सङ्गी जीवन' और 'सत्सङ्गी भूषण' ग्रन्थोंकी रचना कर स्वामी सहजानन्दकी शिक्षा और भागवतधर्म-प्रचारका महत्त्व निरूपित किया ।

स्वामी सहजानन्द अपने समयकी परम दिव्य भागवती शक्ति थे । उन्होंने भगवान्की भक्तिसे मानवताको सम्पन्न किया । उन्होंने भगवद्भक्तिके आश्रयको ही आत्मकल्याणका पथ बताया । भागवतधर्म ही ऐकान्तिक धर्म है । भगवान्की आज्ञासे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये किया गया धर्माचरण ही 'भागवतधर्म' कहा जाता है । भगवान्के भक्त ही इस धर्मको धारण करते हैं । भागवतधर्म सनातन है । इसका कभी नाश नहीं होता । इस भागवतधर्मकी ग्लानि होनेपर भगवान्का अवतार होता है । स्वामी सहजानन्दने भागवतधर्मके निरूपणमें कहा है—'धर्म दो प्रकारका होता है, एक प्रवृत्तिधर्म है तो दूसरा निवृत्तिधर्म कहा जाता है । ये दोनों भगवत्-सम्बन्धसहित और भगवत्सम्बन्धरहित होते हैं । इनमें जो भगवत्सम्बन्धसहित धर्म है, वह नारद, सनकादि, शुक, ध्रुव, प्रह्लाद और अम्बरीष आदिका है; यह भागवतधर्म है । वर्णाश्रमधर्म भागवतधर्मकी अपेक्षा गौणस्थानीय है । भागवत-धर्मसे मनुष्य मायाका (भगवान्की मायाका) संतरण कर पुरुषोत्तमके धामकी प्राप्ति करता है । भागवतधर्म और भक्ति—दोनों समानार्थक हैं ।'

स्वामी सहजानन्दने भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें कहा है कि ''परमात्मा द्विभुज, दिव्य और सदा साकार हैं । वे मायिक आकाररहित—निराकार और दिव्य आकारसहित—साकार हैं । शास्त्रका मर्म ऐकान्तिक भक्त ही समझ पाता है । शास्त्रका कथन है कि 'भगवान् अरूप हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं, निर्गुण और सर्वव्यापक हैं ।' मूर्ख तो समझेंगे कि शास्त्रमें भगवान्को 'अरूप' कहा गया है । पर ऐकान्तिक भक्त यह जानता है कि 'अरूप' मायिक रूपका निषेध है; भगवान् तो नित्य दिव्यमूर्ति हैं तथा अनन्त कल्याण-गुणयुक्त हैं । वे तेजःपुञ्जरूप हैं । मूर्तिके बिना तेज हो ही नहीं सकता । यह तेज तो मूर्तिका ही है ।'' उन्होंने कहा है कि श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, भगवान् हैं, पुरुषोत्तम हैं । वे हमारे उपास्य इष्टदेव हैं, सबके आविर्भावके कारण हैं । राधासे युक्त होनेपर वे प्रभु 'राधाकृष्ण' हैं । रमास्वरूपिणी भगवती रुक्मिणीसे युक्त होनेपर वे 'लक्ष्मीनारायण' हो जाते हैं ।''

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः ।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥
स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः ।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि ॥

(शिक्षापत्री १०८-१०९)

उन्होंने श्रीकृष्णमें भक्ति सुदृढ़ करनेके लिये श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके प्रतिदिन अथवा वर्षमें एक बार पण्डितोंसे आदर पूर्वक श्रवण करनेपर बड़ा जोर दिया । उनका स्पष्ट आदेश है—

श्रव्यः श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध आदरात् ।
प्रत्यहं वा सकृद् वर्षे वर्षे वाच्योऽथ पण्डितैः ॥

(शिक्षापत्री ११७)

स्वामी सहजानन्दने कहा कि 'चारों वेद, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्-भागवत, महाभारतान्तर्गत विष्णुसहस्रनाम, श्रीमद्भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डका वासुदेव-माहात्म्य और याज्ञवल्क्यस्मृति—ये आठों हमारे इष्ट शास्त्र हैं । मिताक्षरा टीकासे युक्त याज्ञवल्क्यस्मृति हमारा धर्मशास्त्र है, श्रीमद्भागवतका पञ्चमस्कन्ध हमारा योगशास्त्र है । उसका दशमस्कन्ध हमारा भक्तिशास्त्र है । श्रीरामानुजकृत व्याससूत्र-भाष्य और श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य—दोनों हमारे अध्यात्म-शास्त्र हैं । हमारा मत विशिष्टाद्वैत है और हमारा प्रियधाम गोलोक है ।' शिक्षापत्रीमें उनकी स्वीकृति है—

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम् ।
पुराणं भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम् ॥
तथा श्रीमद्भगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता ।
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् ॥
धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः ।
एतान्यष्ट ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥

× × × ×

दशमः पञ्चमः स्कन्धो याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ।
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ॥
शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥

(९३-९५, ९९-१००

स्वामी सहजानन्दने भगवत्स्वरूपोंमें भेदभाव न रखनेकी शिक्षा दी । उन्होंने विष्णु और शिवको स्वरूपतः एक बताया । उन्होंने कहा कि 'नारायण और शिवको एक ही

जानना चाहिये, वेदमें इनका ब्रह्मरूपसे प्रतिपादन किया गया है।' इसी तरह उन्होंने साम्प्रदायिक सहानुभूति दिखायी। यद्यपि उनका मत विशिष्टाद्वैत था, तथापि वल्लभ-सम्प्रदायके प्रति उन्होंने जो भाव प्रकट किया है, उसमें उनकी उदार मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। उन्होंने कहा है कि 'समस्त वैष्णवोंके राजाकी तरह श्रीवल्लभाचार्य और उनके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजीने जो व्रत-उत्सव आदिका निर्णय किया है, उसीके अनुसार व्रत-उत्सव तथा श्रीकृष्णकी सेवा-रीति आदिका ग्रहण करना चाहिये।'

भगवान् और उनके अक्षर धामके प्रति स्वामी सहजानन्दने कहा है—'जो अक्षराधिपति परम दिव्यमूर्ति परमात्मा हैं, वे अपने ऐश्वर्य तथा तेजको अपनेमें प्रविष्टकर जीवके कल्याणके लिये मनुष्यरूपमें प्रकट होते हैं, जिससे मनुष्य उनका दर्शन कर सके, उनकी सेवा-अर्चना कर सके। इस तरह वे रूप धारणकर मनुष्यके समान आचरण करते हैं।

'निस्संदेह अक्षर धामके सुखके समान दूसरे धामका सुख नहीं है। पशुके सुखसे मनुष्यमें अधिक सुख होता है, उससे अधिक राजाका सुख है, उससे अधिक देवताका सुख है, उससे अधिक इन्द्रका सुख है, उससे अधिक बृहस्पतिका सुख है, उससे अधिक ब्रह्माका है, उससे अधिक वैकुण्ठका है, उससे अधिक सुख गोलोकका है और उससे भी अधिक भगवान्के अक्षर धामका सुख है।' सहजानन्द स्वामी फिर कहते हैं—'भगवान्का सनातन, अनादि, दिव्य मूलरूप उनके अक्षर धाममें रहता है। वे भगवान् जब जीवोंको अपना दर्शन देना चाहते हैं, तब अपने अलौकिक ऐश्वर्यको छिपाकर मनुष्यदेह धारण करते हैं और मनुष्यके समान चेष्टा करते हैं।......पुरुषोत्तम भगवान् तो कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्रके समान तेजोमय अपने अक्षर धाममें दिव्य आकारमें सदा विराजमान रहते हैं।.....वे परब्रह्म पुरुषोत्तम कृपा कर अपने (स्वजनों) जीवोंके कल्याणके लिये पृथ्वीपर प्रकट होते हैं। वे उस समय जो-जो तत्त्व अङ्गीकार करते हैं, वे सब (तत्त्व) ब्रह्मरूप ही होते हैं।' स्वामी सहजानन्दकी स्वीकृति है कि "जो भगवान् पुरुषोत्तम हैं, वे सदा साकार हैं, वे महातेजोमयमूर्ति हैं। अन्तर्यामीरूपमें जो भगवान् सर्वत्र पूर्ण हैं, वे सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं। वे तो मूर्तिमान् भगवान् पुरुषोत्तमके तेज हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'श्रुतिमें परमेश्वर कर-चरण आदिसे रहित वर्णित हैं, सर्वत्र पूर्ण हैं।' यह तो मायिक चरणादिका निषेध है। भगवान्का आकार दिव्य है, मायिक नहीं। भगवान् पुरुषोत्तम सदा साकार हैं।"

स्वामी सहजानन्दने आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें भगवद्भक्तिको सर्वोपरि ठहराया। उन्होंने भक्ति-सिद्धिके लिये सत्सङ्ग, वैराग्य और मुक्तिको अन्य साधनोंकी अपेक्षा प्रमुख महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने कहा है—"परमेश्वरका भजन-स्मरण करते हुए सत्सङ्ग करना चाहिये; मनमें किसी भी बातके प्रति आग्रह नहीं रखना चाहिये। आग्रह केवल भगवान्के भजन और भक्तोंके सत्सङ्गके लिये होना चाहिये। ..यदि श्रीकृष्णकी इच्छा होगी, तो सत्सङ्ग बढ़ेगा, यदि उन्हें उसे घटाना होगा तो वह घटेगा। भगवान्की इच्छा होगी, तो जगत् सत्सङ्गी होगा।' सत्सङ्गका फल है—जगत्की विनश्वर वस्तुओं तथा सम्बन्धोंके प्रति मनमें अनासक्तिका उदय; यही 'वैराग्य' कहलाता है। उन्होंने कहा है—'आत्मा-परमात्माके ज्ञानसे उत्पन्न वैराग्य ही खरा वैराग्य है। इसके बिना जो वैराग्य है, उसमें कोई बल नहीं है। वह तो ऊपरी वैराग्य अथवा दिखावा है। बल तो उस वैराग्यमें है, जो ज्ञानांश है।' उन्होंने परमेश्वरके साथ प्रेम-सम्बन्धका महत्त्वाङ्कन करते हुए कहा है—'जिसे परमेश्वरसे प्रेम है, उसे उनके सिवा किसी और पदार्थमें प्रीति ही नहीं होती। परमेश्वरके अतिरिक्त जो और पदार्थ अधिक प्रिय जान पड़ते हैं, उनका अतिशय त्याग ही त्याग है। जो पदार्थ परमेश्वरके प्रेममें बाधक हैं, उनका त्याग न कर ऊपरी वस्तुका त्याग तो केवल दिखावामात्र है।'

वास्तविक वैराग्य तथा त्यागसे ही मुक्तिका उदय होता है। स्वामी सहजानन्दके सिद्धान्तके अनुसार दिव्य धाममें रहते हुए ब्रह्मरूपमें भगवान्की सेवा करना ही मुक्ति है। उनके वचन हैं—'भगवान्के लोकमें रहना, उनके समीप रहना, उनके रूपमें लीन होना तथा उनका समस्त ऐश्वर्य पाना—ये ही चार मुक्तियाँ हैं। भगवान्का भक्त इनकी इच्छा न कर केवल उनकी सेवाकी ही इच्छा करता है। जो निष्काम भक्त है, उसीको भगवान् अपनी सेवामें रखते हैं और उसकी इच्छा न होनेपर भी भगवान् उसे अपना ऐश्वर्य-सुख प्रदान करते हैं।'

स्वामी सहजानन्दने भक्तिको ही भक्तकी सहज सम्पत्ति स्वीकार किया है। आत्मनिष्ठाके बाद उपासनाका आरम्भ होता है और उपासनासे भक्तिकी प्राप्ति होती है। दृढ़ भगवदाश्रयसे ही भक्त मृत्युको जीतकर भक्तिराज्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है। स्वामी सहजानन्दने कहा है—'मैं देह नहीं, सबको जाननेवाला आत्मा हूँ। जिसका ऐसा निश्चय हो जाता है, आत्मनिष्ठा हो जाती है, उसका काम, क्रोध, क्षोभ तथा भयके समय धैर्य नहीं डिगता। आत्मनिष्ठाके बिना अनेक उपाय करनेपर भी धैर्य नहीं रहता। जब आत्मनिष्ठा सहायता नहीं करती, तब भगवान्‌की उपासना काम आती है। जिसको नदी तैरना आता है, वह तैरकर पार हो जाता है; पर जो तैरना नहीं जानता, वह तो खड़ा ही रहता है। जिसे समुद्र पार करना होता है, उसे बड़े बेड़ेकी आवश्यकता पड़ती है। भूख-प्यास, मान-अपमान और सुख-दुःखको तो आत्मनिष्ठावाला तैरकर पार कर लेता है, पर मृत्युका समय तो समुद्रके समान है। इसके लिये तो आत्मनिष्ठावाले और बिना आत्मनिष्ठा-वाले—दोनोंको भगवान्‌की उपासनारूपी नौकाकी आवश्यकता पड़ती है। अन्तकालमें भगवान्‌का दृढ़ आश्रय ही काम देता है, आत्मनिष्ठासे काम नहीं चलता; इसलिये भगवान्‌की उपासना दृढ़ कर रखनी चाहिये।'

आत्मनिष्ठको तीव्र वैराग्य होता है, आत्मनिष्ठा होती है। उसे बन्धन तो नहीं होता; पर यदि उसमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है तो जिस तरह अनेक प्रकारके व्यञ्जनोंमें नमक न होनेसे सब कुछ व्यर्थ हो जाता है, उसी तरह भगवान्‌की भक्तिके बिना ब्रह्मज्ञान और वैराग्य—दोनों व्यर्थ हैं। स्वामी सहजानन्दका कथन है—'शुकदेवजी ब्रह्मस्वरूप थे, फिर भी वे श्रीमद्भागवतके वक्ता थे और भगवान् श्रीकृष्णमें उनकी दृढ़ भक्ति थी। आत्मनिष्ठमें यदि भगवान्‌की भक्ति नहीं है तो यह उसका महान् दूषण है।'

निस्संदेह भक्तिमें जितनी शक्ति है, उतनी ज्ञान-वैराग्यमें नहीं है। स्वामी सहजानन्दकी उक्ति है कि "श्रीकृष्णके प्रति माहात्म्यज्ञानसहित जो घनिष्ठ स्नेह है, वही 'भक्ति' है। ···भगवान्‌की मूर्तिकी अखण्ड स्मृतिका नाम ही 'स्नेह' है।"

स्वामी सहजानन्दने श्रीकृष्ण-चिन्तनको ही भक्तिका स्वरूप बताया है। उन्होंने शिक्षापत्रीमें अपना मत व्यक्त किया है—

> वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि।
> वृन्दावनविहारं तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये॥
> (शिक्षापत्री १)

आत्मनिष्ठा—आत्मज्ञान, वैराग्य और धर्म भगवान्‌की भक्तिके सहायक हैं। धर्म, ज्ञान और वैराग्य क्रमशः भक्तिके मस्तक, हृदय और चरण हैं। भक्ति धर्म, ज्ञान और वैराग्यसहित करनी चाहिये। सहजानन्दकी विज्ञप्ति है—

> धर्मो ज्ञानं च वैराग्यं भक्तेर्वैयानि तत्त्वतः।
> अङ्गानि त्रीण्युत्तमाङ्गहृत्पादाख्यान्यनुक्रमात्॥
> (सत्सङ्गी-जीवन, प्रकरण २, अध्याय ७। ३४)

स्वामी सहजानन्द सनातनधर्मके महान् संरक्षक थे। उन्होंने वर्णाश्रम-मर्यादाको अक्षुण्ण रखा। उन्होंने कहा कि—'देवता, तीर्थ, ब्राह्मण, पतिव्रता, साधु और वेदकी न तो निन्दा करनी चाहिये, न सुननी चाहिये'—

> देवतातीर्थविप्राणां साध्वीनां च सतामपि।
> वेदानां च न कर्तव्या निन्दा श्रव्या न च क्वचित्॥
> (शिक्षापत्री २१)

उन्होंने आहार-शुद्धिपर बड़ा जोर दिया है। आहार-शुद्धिसे अन्तःकरण पवित्र रहता है। स्वामी सहजानन्दने कहा—'पाँच इन्द्रियोंसे जीव जो आहार करता है, यदि वह शुद्ध है तो अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर भगवान्‌की अखण्ड स्मृति रहती है। यदि पाँच इन्द्रियोंमेंसे एकका भी आहार अशुद्ध रहता है तो अन्तः-करण मलिन ही रहता है। इन्द्रियोंकी क्रियाको भगवान् और भक्तकी सेवामें रखनेसे अन्तःकरण शुद्ध रहता है, अनन्त कालका पाप नष्ट हो जाता है।'

स्वामी सहजानन्दने पञ्च वर्तमान, एकादश नियम और आहार-शुद्धिको अपने उपदेशमें प्रथम स्थान प्रदान किया है। 'वर्तमान' स्वामिनारायण-सम्प्रदायका पारिभाषिक शब्द है—वर्तन करनेकी प्रतिज्ञा ही 'वर्तमान' है।

उपर्युक्त सम्प्रदायमें प्रवेश करनेके लिये वर्तमानका पालन करना आवश्यक है। प्रवेशके समय यह कहना पड़ता है कि 'काल, माया, पापकर्म और यमदूतके भयसे मुक्त होकर मैं श्रीकृष्णके शरणागत हूँ; वे भगवान् हमारी रक्षा करें।' इस प्रतिज्ञाका उच्चारण कर वर्तमान ग्रहण

करनेवाला ही उपर्युक्त सम्प्रदायका अनुयायी कहा जाता है। जिस तरह गृहस्थके लिये वर्तमान पाँच हैं, उसी तरह त्यागियोंके लिये भी पाँच वर्तमान हैं। गृहस्थके लिये मदिरा न पीना, मांस-भक्षण न करना, चोरी न करना, व्यभिचारका मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग करना तथा अशुद्ध व्यक्तिके अन्न-जलका ग्रहण न करना ही पाँच वर्तमान हैं। त्यागाश्रमीके लिये निष्कामता, निर्लोभता, निःस्वादता, निःस्नेहता और निर्मानता—पाँच व्रत ही पाँच वर्तमान हैं। स्वामी सहजानन्दने कहा है कि 'पाँच वर्तमानकी अवज्ञा कर केवल ज्ञान या भक्तिका आश्रय ग्रहण करनेवाला असुर है। वह गुरुद्रोही है।' उन्होंने कहा है—'वर्तमान ग्रहण करनेपर ही शरणागति सार्थक होती है। जो शरणागत है, वह एक परमात्माका ही आश्रय रखता है; ...महाप्रलयके समान दुःखमें भी परमात्माको ही रक्षक समझता है।... परमात्माकी आज्ञाके अनुसार वह जीवन-यापन करता है। वर्तमानका आचरण करनेवाले शरणागतके कर्मको परमात्मा स्वयं अङ्गीकार करते हैं और उस भक्तका इस लोक और परलोकमें परम कल्याण होता है। वर्तमान ग्रहण करते ही जीवका संचित कर्म नष्ट हो जाता है। क्रियमाण तो वह करता ही है और प्रारब्धको, जो शास्त्रके अनुसार भोगनेपर ही नष्ट होता है, परमात्मा स्वयं ले लेते हैं।'

शिक्षापत्रीमें स्वामी सहजानन्दने एकादश नियमोंपर भी प्रकाश डाला है। उनका त्यागी और गृहस्थ—दोनों ही पालन करते हैं। भगवत्प्रतिमाके सामने दोनों उपर्युक्त नियमोंको नित्य सायं प्रार्थनामें दुहराते हैं। हिंसा नहीं करनी चाहिये, परस्त्री-सङ्गका त्याग करना चाहिये, मांस नहीं खाना चाहिये, मद्य-पान नहीं करना चाहिये, विधवाका स्पर्श नहीं करना चाहिये, आत्मघात नहीं करना चाहिये, चोरी नहीं करनी चाहिये, किसीको कलङ्क नहीं लगाना चाहिये, किसी देवताकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, भगवद्विमुखसे कथा नहीं सुननी चाहिये—आदि एकादश नियम हैं।

स्वामी सहजानन्दने कहा है—'जिसे मैं अपने आचरणमें लाता हूँ, उसीकी बात करता हूँ। जो मेरे सदुपदेशोंको अपने आचरणमें नहीं उतारता, वह हमारे सम्प्रदायमें बहिर्मुख है।'

उन्होंने अपने अनुयायियों, त्यागी शिष्यों और गृहस्थ शिष्योंमें पारस्परिक सद्भावना बनाये रखनेकी दृष्टिसे गुजरात प्रदेशमें बड़तालमें लक्ष्मीनारायण, अहमदाबादमें नरनारायण तथा अन्य प्रमुख स्थानोंमें वासुदेव, नारायण तथा गोपीनाथकी मूर्ति स्थापित की तथा अनेक मन्दिरोंका निर्माण कराया।

स्वामी सहजानन्दद्वारा स्थापित स्वामिनारायण-सम्प्रदायके असंख्य अनुयायी तथा वैष्णवभक्त गुजरात प्रदेशमें पाये जाते हैं। विशिष्टाद्वैतमतानुयायी रामानुज-सम्प्रदायमें ही नहीं, अपितु समस्त वैष्णव-जगत्में स्वामी सहजानन्दका नाम अमर है। निस्संदेह विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दीके महापुरुषोंमें उनको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वे परम भागवत अथवा भागवतरत्न थे। उनके पावन पुण्यस्मरणका अवसर बड़े ही सौभाग्यका फल है।

संस्कारोंपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है

लोहेकी जंजीर भी एक जंजीर है और सोनेकी जंजीर भी एक जंजीर ही है। यदि हमारी अँगुलीमें एक काँटा चुभ जाय तो उसे निकालनेके लिये हम एक दूसरा काँटा काममें लाते हैं, परंतु जब वह निकल जाता है, तब हम दोनोंको ही फेंक देते हैं। हमें फिर दूसरे काँटेको रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती; क्योंकि दोनों आखिर काँटे ही तो हैं। इसी प्रकार कुसंस्कारोंका नाश शुभ संस्कारोंद्वारा करना चाहिये और मनके अशुभ विचारोंको शुभ विचारोंद्वारा दूर करते रहना चाहिये, जबतक कि समस्त अशुभ विचार लगभग नष्ट न हो जायँ, अथवा पराजित न हो जायँ या वशीभूत होकर मनमें कहीं एक कोनेमें न पड़े रह जायँ। परंतु उसके उपरान्त शुभ संस्कारोंपर भी विजय प्राप्त करना आवश्यक है। तभी जो 'आसक्त' था, वह 'अनासक्त' हो जाता है। कर्म करो, अवश्य करो; पर उस कर्म अथवा विचारको अपने मनके ऊपर कोई गहरा प्रभाव न डालने दो। लहरें आयें और जायँ, मांसपेशियों और मस्तिष्कसे बड़े-बड़े कार्य होते रहें, पर वे आत्मापर किसी प्रकारका गहरा प्रभाव न डालने पायें। —स्वामी विवेकानन्द

विष ही खाना हो तो अंडा खाइये !

'अंडे खानेसे हाई ब्लड-प्रेशर होता है, जो बादमें हृदयरोग बन जाता है । यह दुष्पाच्य होनेसे पेटमें तो गड़बड़ करता ही है, पथरी भी पैदा करता है । अंडे खानेवालोंके आमाशयकी दीवारों तथा आँत एवं रक्तवाही नलिकाओंमें घाव पड़ जाते हैं, जो रोगका कारण बनते हैं । पेचिश भी अंडे खानेसे होती है ।'

ये विचार हैं कैलिफोर्निया (अमेरिका) के वैज्ञानिक डा० कैथरिन निम्मो तथा डा० जे० अमेनके । परीक्षणोंके बाद ये इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि अंडेमें 'कालेस्ट्राल' नामक विष पाया जाता है । यह विष रक्त-वाहिनी नलिकाओंको घायल करता है, जिसके कारण उनपर गंदगी जमती है तथा उनका मार्ग सँकड़ा हो जाता है । इनमें लचकका अभाव हो जाता है । ये नलिकाएँ बड़ी कोमल एवं संवेदनशील रचनाएँ हैं । इनकी कोमलता एवं संवेदनशीलता घटनेसे ही बुढ़ापा आता है । इस कारण अंडे खानेसे व्यक्ति शीघ्र बूढ़ा हो जाता है और उसकी आयु कम हो जाती है । इसके विवरणको अमेरिकाके फ़्लोरीडा विश्वविद्यालयने सन् १९६७ में ही अपनी एक स्वास्थ्य बुलेटिनमें प्रकाशित किया था ।

ये तथ्य बड़े चौंकानेवाले हैं । अंडेको स्वास्थ्य-विज्ञान पिछले दिनों 'सम्पूर्ण भोजन' मानता आया था । नयी शोधोंने उन्हें अधिक गहराईतक विचार करनेके लिये विवश किया और इस निष्कर्षपर पहुँचाया है कि अंडेकी उपयोगिता वैसी नहीं है, जैसी अबतक प्रतिपादित की जाती रही है । अभी-अभी रूसमें १६० वर्षकी आयुमें एक दीर्घजीवी व्यक्तिकी मृत्यु हुई । उसके दीर्घजीवनका कारण शाकाहारी जीवन था ।

इंग्लैंडके डाक्टर राबर्ट ग्रास, प्रो० ओकाडा, डेविडसन इरविंग आदि वैज्ञानिकोंने भी परीक्षण-प्रयोग किये । इनके आधारपर उन्होंने स्वीकार किया है कि 'अंडे खानेवालोंको इसके हानिकारक प्रभावके कारण पेचिश तथा मन्दाग्निसे पीड़ित होना पड़ता है तथा आगे चलकर यह आँतों तथा आमाशयके क्षय-रोगके रूपमें परिणत हो सकता है ।' डा० ई० वी० एम० सी० (अमेरिका) तथा डा० डोग्हा (इंग्लैंड) ने अपनी विश्वविख्यात स्वास्थ्य-पुस्तकों 'पोषणका नवीनतम ज्ञान' एवं 'बीमारियोंकी प्रकृति'में स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'अंडे मनुष्यके लिये विष हैं । कैल्शियम तथा कार्बोहाइड्रेट अंडेमें कम होते हैं । इसीलिये यह पेट सड़ाता है तथा बीमारियाँ पैदा करता है ।'

इंग्लैंडके डा० आर० जे० विलियमने कहा है—'हो सकता है, अंडे खानेवाले लोग शुरूमें अपनेको अधिक स्वस्थ अनुभव करें और दूसरोंको भी ऐसा लगे; पर बादमें वे कई रोगोंसे ग्रस्त हो जाते हैं, जिनमें रक्तचाप और एग्ज़ीमा-जैसे भयानक रोग भी हैं ।'

उपर्युक्त कथन मांसभोजियोंके लिये एक चेतावनी है । वैज्ञानिक निष्कर्षोंके आधारपर अब यह सिद्ध हो चला है कि मांसाहारसे लाभकी अपेक्षा शरीरको हानि ही अधिक उठानी पड़ती है ।

मनुष्यका भोजन वनस्पति, फल-फूल तथा दूध ही है । यही दीर्घजीवी होनेका राजमार्ग है । प्रबुद्ध वर्गके वैज्ञानिक एवं विचारक धीरे-धीरे मांसाहारके कारण होनेवाले शारीरिक दुष्प्रभावको समझने लगे हैं । मांसाहारसे बौद्धिक और भावनात्मक हानि तो इतनी अधिक है कि उसकी तुलनामें यदि शरीरको कुछ लाभ भी होता हो तो वह त्यागने ही योग्य है ।

शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक हानि उठाकर मांसाहार तथा अंडोंका सेवन यदि जिह्वाके स्वादके लिये किया जाता रहे तो इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है । इतना संयम तो मनुष्य-जैसे विवेकशील प्राणीको रखना ही चाहिये कि वह स्वादके वशीभूत होकर विष-भक्षण न करे ।

('युग-निर्माण-योजना' से साभार)

आज धर्मपर एक नैतिक संकट क्यों आया हुआ है ?

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आजके भौतिकवादी युगमें धर्मपर एक नैतिक संकट आया हुआ है । वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें पतन दिखायी देता है । राजतन्त्र, कानून तथा सामाजिक न्यायकी व्यवस्थाओंमें अनीति और अवज्ञा घुस गये हैं । सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवनमें दुष्ट, पतित निम्नगामी व्यक्ति प्रविष्ट हो गये हैं । शिक्षा-जगत्में उच्छृङ्खलता, अवज्ञा, कृतघ्नता, असहयोग और अनुशासन-हीनताका दौरदौरा पूरे वेगपर है । सार्वजनिक जीवनमें भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, ठगी, बेईमानी, गुंडागर्दी, विलासिता, नशेबाजी, कामुकता तथा हिंसा-जैसी राक्षसी प्रवृत्तियाँ जोरोंसे बढ़ रही हैं । राजनीति-क्षेत्रमें गुटबंदी और पक्षपात चल रहे हैं । राष्ट्रीय जीवनमें छोटी-छोटी बातोंको लेकर झगड़े होते रहते हैं ।

ऐसी स्थिति क्यों है ?

कारण यह है कि उपर्युक्त सब व्यवस्थाओंको चलानेवाले तत्त्व—धर्मका लोकजीवनमें अभाव हो गया है । रामराज्यमें समाज तथा राज्यकी उन्नति, विकास और समृद्धि चलती रही । उसमें इन सबके मूल कारण धर्मतन्त्र और धर्मनीतिका पालन हो रहा था । आज हमारे धर्मपर संकट है । इसीलिये सब कुछ अस्त-व्यस्त और विशृङ्खलित हो गया है । बिना धर्मके ऐसी ही अवस्था फैल जाती है ।

जैसे दूधमेंसे मक्खन निकाल लिये जानेपर दूध बेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य और समाजमेंसे धर्मके निकल जानेपर वे दुर्बुद्धि, आलस्य, अपराध, अन्याय, असंयम, आवेश-जैसे दोष-दुर्गुणोंसे युक्त हो जाते हैं । धर्म व्यक्तिको नियन्त्रित और संयमित करता है । धर्म समाजको संतुलित करता है । धर्म देशमें समता, भ्रातृत्व, बन्धुत्व और समृद्धिकी वृद्धि करता है । धर्म विश्वमें सद्विचार और सद्भावनाएँ विकसित करता है । धर्म लोकरक्षण करता है । धर्म उन्नतिका आधार है । लोक-जीवनका अभ्युदय धर्मसे ही सम्भव है ।

फिर धर्मपर संकट क्यों आया है ? कौन है उसके लिये उत्तरदायी ? विनाश और अशान्तिका कारण क्या है ?

आप अपनेको धार्मिक कहते हैं । प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक मस्तकपर चन्दन लगा, रुद्राक्षकी माला पहन भगवान्के दर्शन करने मन्दिरमें जाते हैं । दिखानेके लिये पूजा-पाट, संध्या-वन्दन, कीर्तन, यज्ञ आदि धार्मिक कार्योंमें भाग लेते हैं । धार्मिक पर्वोंपर उपवास भी रखते हैं । दान-दक्षिणाका प्रदर्शन भी करते हैं । खेद है कि इस बाहरी दिखावे-से ही आप संतुष्ट हो जाते हैं । केवल धर्मका नाटक खेलते रहते हैं । कोरा अभिनय ही आपका लक्ष्य रह जाता है ।

अमल करनेकी दृष्टिसे आप धर्मसे दूर रहते हैं । आप धर्मके नियमोंपर व्यवहार नहीं करते । जिन दया, क्षमा, प्रेम, सहयोग, न्याय, मर्यादा, अहिंसा, सदाचारकी आप बातें करते हैं, खेद है कि उनके अनुकूल आचरण आप नहीं करते । आप जो कहते हैं, वह करते नहीं । अपने व्यवसायमें ईमानदारी नहीं बरतते । आप तनिक-सी बातपर दूसरोंसे झगड़ा करने लगते हैं । उत्तेजित होकर गंदी गालियाँ देने लगते हैं । पड़ोसको आपकी सहयोगवृत्तिसे कोई लाभ नहीं हो रहा है । आपका भौतिक विकास आपके लोभ, अहं, विलास और प्रवञ्चनाको बढ़ावा दे रहा है, जो विनाश और अशान्तिका कारण बन रहे हैं । फिर बताइये, आपके दिखावेके धर्मसे क्या लाभ ?

आप बिना नागा मन्दिरमें भगवान्के दर्शनोंके लिये जाते हैं । वहाँ देवताकी मूर्तिपर बड़ी श्रद्धापूर्वक पुष्प और नैवेद्य चढ़ाते हैं, भजन और आरती गाते हुए भगवद्भक्तिमें गद्गद हो उठते हैं । आपके मस्तकपर लगा चन्दन आपकी धार्मिकताका प्रमाण है । बाहरसे देखनेमें सभी आपको परम भक्त मानते हैं ।

किंतु यह सब आपका अभिनयमात्र है । धर्म आपके मन, विचारों और भावनाओंमें प्रविष्ट नहीं हुआ । वह ऊपर ही रखा है । उसपर अमल किंचित् भी नहीं है । हमारा व्यवहार ठगी, बेईमानी, विलासिता, नशेबाजी, कामुकता, रक्तपात-जैसी राक्षसी प्रवृत्तियोंसे भरा हुआ है । ये ही दुष्ट प्रवृत्तियाँ रहीं तो धर्मपर संकट आयेगा ही ।

आपके घर अनेक धर्मग्रन्थ रखे हुए हैं, किंतु आप उनका अध्ययन नहीं करते, स्वतन्त्ररूपसे धर्मके व्यवहार-पक्षपर नहीं सोचते । कभी विद्वानोंका सत्सङ्ग नहीं करते । उच्च विचारोंको कार्यान्वित नहीं करते । फिर धर्मपर संकट आयेगा ही ।

आप दान देनेकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं, चैरिटी फंड बनाते हैं, दान-पेटी दूकानपर लगी है; किंतु जो पैसा दानमें देते हैं, उससे जरूरतमंदको लाभ नहीं होता। घूम-फिरकर वह अमीरके पास ही पहुँच जाता है। फिर बताइये, धर्मपर संकट क्यों न आये ?

आप घरमें कथा कराते हैं, बड़े प्रेमसे उसमें वर्णित धर्मतत्त्वोंका माहात्म्य सुनते हैं, थोड़ी देरके लिये उन्हें पसंद करते हैं, भावावेशमें तन्मय हो जाते हैं, किंतु जब उन धर्मतत्त्वोंपर आचरण करनेका मौका आता है, तो स्वार्थ, दुराव, अवज्ञा, कृतघ्नता और असहयोगसे भर जाते हैं। मनमानीपर उतर आते हैं, जब धर्मके अनुसार आचरण नहीं है, तब धर्मपर संकट आयेगा ही।

आप जन्माष्टमी, रामनवमी, दुर्गापूजा, गणेशचतुर्थी, शिवरात्रि आदिपर झाँकियाँ सजाते हैं, पर जिन देवताओंको प्रेमपूर्वक स्मरण करते हैं, उन्हींके सिद्धान्तोंकी अवहेलना करते हैं। उनके आदर्शोंके अनुकूल आचरण नहीं करते। धर्मकी दूकान सजानेके अतिरिक्त आपका कोई सरोकार नहीं है। ऐसी दशामें धर्मपर संकट आना जरूरी है ही।

खेद है कि धार्मिकतापर गर्व करनेवाले भक्तके ही मनमें दूसरोंके प्रति वैर निकालनेके लिये प्रतिशोध वृत्ति और क्रोधकी भट्ठी जलती रहती है। उससे बदला लेनेके लिये आप शायद कोई षड्यन्त्र रच रहे हैं। अपने व्यापारमें कम तौलने और मिलावट करनेके नित-नये तरीके सोचते रहते हैं। बाटोंको घिसकर रत्तीभर माल कम तौलनेकी युक्ति सोचते रहते हैं। अपने दफ्तरमें रिश्वत ले अनुचित तरीकोंसे रुपया हड़पनेकी एक-से-एक चतुर युक्ति आपने खोज निकाली है। मौका देखकर आप उसे काममें ले ही लेते हैं। पास-पड़ोसके लोगों तथा इष्ट-मित्रों तकसे रुपया ऐंठनेमें नहीं झिझकते। आपका अपना ऐसा गुट है, जो योजनाबद्ध तरीकोंसे रुपया उड़ाता है। फिर बताइये आपके धर्मसे किसीको या आपको ही क्या लाभ ?

आप मन्दिरके पुजारी हैं। असंख्य भावुक भक्त, युवतियाँ, बालिकाएँ, बच्चे ईश्वरकी मूर्तिके दर्शनोंके लिये मन्दिरमें एकत्रित होते हैं। उनकी भीड़ दर्शनोंके लिये आतुर रहती है। आप 'रामनाम'का अँगोछा ओढ़े, मस्तकपर चन्दनका त्रिपुण्ड् धारण किये, माला गलेमें डाले आरती करा रहे हैं। मन्दिरके घण्टे-घड़ियाल तीव्र गतिसे बज रहे हैं। सभी भक्तोंकी दृष्टियाँ आपपर टिकी हुई हैं; क्योंकि वे आपको धर्मका सेवक मानते हैं।

धार्मिक जगत्में प्रतिष्ठा बनानेके लिये आप एक नया गगन-चुम्बी भगवान्‌का मन्दिर बनवा रहे हैं। उसमें सब तीर्थोंका पवित्र जल एकत्रित किया गया है। दिन-रात आपकी ओरसे उस मन्दिरमें भजन, पूजन, कीर्तन, स्वाध्याय आदिकी सुव्यवस्था है। भिखारियों और विधवाओंको दान देने और भोजन करानेका भी प्रबन्ध है।

किंतु जितना आप अपने मन्दिरपर व्यय कर रहे हैं, उससे कुछ अधिक अर्जित करने, अनुचित लाभ उठाने, समाजकी आँखोंमें धूल झोंकनेकी कुटिल योजनाएँ आपके मनमें चल रही हैं। यह छल, यह कपट, यह प्रवञ्चना धर्म नहीं है। यह आडम्बर 'धर्म'-जैसे पवित्र भावको लज्छित और अपमानित करता है।

एक ओर आप दान देने, गरीबोंकी सहायता करने तथा दहेज, टीका, ठहराव इत्यादि कुरीतियों और अन्ध-विश्वासोंसे बचनेकी सलाह देते हैं, नैतिकतापर भाषण झाड़ते हैं, आदर्शवादका ढोल पीटते हैं; पर दूसरी ओर चुपचाप अपने पुत्रके विवाहपर कन्यापक्षसे अधिक-से-अधिक दहेज और सामान ऐंठ लेना चाहते हैं। फिर बताइये, आपका थोथा उपदेश किस कामका रहा ?

धर्मकी आड़में यदि नैतिकता संकटमें पड़े तो बड़ी अशोभनीय बात है। जिन बातोंसे जीवनमें शान्ति, सुव्यवस्था, सदाचार और इन्द्रिय-संयम नहीं आता, वे सब ढोंग हैं। दिखावेका धर्म हाथीके निकले हुए दाँतों या बकरीके गलेमें लटकते हुए निर्जीव थनोंकी तरह केवल प्रदर्शनमात्र है।

फिर सच्चा धर्म क्या है ?

जिस व्यक्तिमें धर्मका समावेश हो, उसके जीवनमें क्या-क्या विशेषताएँ होनी चाहिये ?

इसका उत्तर यह है कि सच्चा धार्मिक व्यक्ति वह है, जो व्यवहारकी दृष्टिसे निम्न गुण-चरित्रोंको कार्योंद्वारा प्रकट करता रहता है—

प्रशान्तचित्ताः सर्वेषां सौम्याः कामजितेन्द्रियाः।
कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहमनिच्छवः॥
दयार्द्रमनसो नित्यं स्तेयहिंसापराङ्मुखाः।
गुणेषु परकीयेषु पक्षपातसमन्विताः॥
सदाचारावदाताश्च परोत्सवनिजोत्सवाः।
पश्यन्तः सर्वभूतस्थं वासुदेवममत्सराः॥
दीनानुकम्पिनो नित्यं भृशं परहितैषिणः।
× × ×
विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते।
वितन्वते हि तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ।

स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड

अर्थात् सच्चे धर्मके अनुयायी वे हैं, जिनका चित्त (संकट और विपत्ति, विघ्न-बाधाओंमें) शान्त रहता है। वे

सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं (जिससे दूसरोंको सुधरनेका मौका मिलता है), अपनी इन्द्रियों (और वासनाओं) पर यथेष्ट विजय प्राप्त किये रहते हैं तथा मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करने (दूसरोंको हानि पहुँचाने या अनुचित लाभ अर्जित करने) की इच्छा नहीं रखते ।

सच्चे धार्मिक व्यक्तिका चित्त (दुःखी, पीड़ित, रोगी, निर्बल, शोषितके लिये) दयासे पिघला रहता है । वे हर प्रकारकी चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं । उनका शत्रुके भी गुणोंमें पक्षपात रहता है ।

नित्यप्रतिके दैनिक जीवनमें सदाचारसे उनका जीवन सदा उज्ज्वल और दीप्त बना रहता है । वे दूसरोंके (सही दिशाओंमें) उत्साहको अपना ही उत्साह मानते हैं तथा सभी प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते ।

दीन-निस्सहायोंपर दया करना (तथा उन्हें ऊँचा उठनेकी प्रेरणा देना) उनका सहज स्वभाव होता है और वे सदा परहितसाधनकी अधिक-से-अधिक इच्छा रखते हैं । अविवेकी व्यक्तियोंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे अरबगुनी अधिक प्रीति वे भगवान् श्रीहरिके प्रति (शुभ कर्मोंद्वारा) करते हैं ।

दूसरे शब्दोंमें वे सत्पुरुष अपने जीवनमें नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योंको आधार बनाते हुए विविध समाजोपयोगी कार्यक्रमों (जैसे यज्ञ, उपासना, योगसाधना, संस्कार, सत्सङ्ग, वैयक्तिक-पारिवारिक धर्मानुष्ठानों, पर्वों) को सही रूपोंमें मनाकर मानवताकी सेवामें लगे रहते हैं । अपने व्यक्तिगत जीवन, अपने संगी-साथियों, कुटुम्बियों, एवं समाजको समग्र हितके कार्योंमें संलग्न रखते हैं । स्वेच्छासे अपनी शक्तियोंका उपयोग समाजके हितके लिये करते रहते हैं। सही धर्मतन्त्रके प्रचार, प्रसार एवं अध्यात्मके पुनर्जागरणमें योगदान देते हैं ।

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति हिंसमानान् रिपूनपि ।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः ॥
सुजनो न याति विकृतिं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छिन्नोऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥
दैवं परं विनश्यति वसुरपि न श्रीनिवेदिता सत्सु ।
अवशिष्यते हिमांशोः सैव कला शिरसि या शम्भोः ॥
ते साधवो भुवनमण्डलमौलिभूता
ये साधुतामनुपकारिषु दर्शयन्ति ।
आत्मप्रयोजनवशात्कृतछिन्नदेह-
पूर्वोपकारिषु खलोऽपि हितानुरक्तः ॥
(पद्म०, उत्तर० ७ । २२—२५)

अर्थात् सच्चे धर्मका पालन करनेवाले वे हैं, जो (सुधारनेके लिये) हिंसा करनेवाले शत्रुओंपर भी कृपा ही करते हैं । पर्वतोंसे निकलकर बहनेवाली बड़ी-बड़ी नदियाँ अपनी सौतरूपी सहायक नदियोंको भी समुद्रमें मिला देती हैं ।

परोपकार-रत सच्चे धार्मिक पुरुष मरते समयतक भी अपने मृदु और उत्तम स्वभावका परित्याग नहीं करते अर्थात् मरते दमतक दूसरोंका हित ही करते रहते हैं । उदाहरणके लिये चन्दनके वृक्षको देखिये, चन्दन काटे जानेपर भी काटनेवाली कुल्हाड़ीकी धारको सुगन्धित कर देता है ।

प्रारब्धकर्मका चाहे विना भोगे ही क्षय हो जाय, जो असम्भव है, परंतु जो सम्पत्ति सत्पुरुषोंको अर्पण कर दी जाती है, वह स्वल्प होनेपर भी अक्षय हो जाती है । चन्द्रमाकी जो कला भगवान् शंकरके मस्तकपर सुशोभित होती है, वह बच जाती है । उसका क्षय नहीं होता ।

वे ही सत्पुरुष त्रिभुवनमें श्रेष्ठ हैं, जो उपकार न करनेवालोंके साथ भी साधुताका ही आचरण करते हैं । अपने लिये अङ्गोंको काट देनेवाले पहलेके उपकारीके प्रति तो दुष्ट पुरुष भी हित और प्रेमका ही बर्ताव करते हैं ।

धर्म हमारे दैनिक जीवनमें व्यवहार और प्रयोगकी वस्तु है, अमल करनेकी जीवन-पद्धति है । हम सही अर्थोंमें धार्मिक हैं तो उससे हमें सदा शान्ति, संतुलन, विपत्तिमें धैर्य, संकटमें प्रेरणा और अन्धकारमें प्रकाश मिलना चाहिये ।

ईश्वरकी प्रार्थनाद्वारा, धर्मके व्यवहार और संत-समागमद्वारा हे मनुष्यो ! अपने द्वेष और दुर्गुण दूर करो, ईमानदारीसे धन प्राप्त करो, सदाचरण करते रहो । इसीसे तुम्हें धार्मिक प्रकाश मिलेगा ।

भूल-सुधार

'श्रीविष्णु-अङ्क'के पृष्ठ ५२४ पर 'संकष्टनाशनस्तोत्र' छपा है । इस स्तोत्रके मानसिक पञ्चोपचार-पूजनकी विधिमें दीप-निवेदनका मन्त्र भूलसे छूट गया है । उसे धूप-सम्बन्धी मन्त्रके बाद जोड़ लेना चाहिये । दीप-निवेदनका मन्त्र यह है—

'ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं समर्पयामि ।'

—सम्पादक

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'श्रीगणेश-अङ्क'

[सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना]

'कल्याण', मार्च १९७३ के टाइटिलके अन्तिम पृष्ठपर प्रकाशित निवेदनसे सम्मान्य पाठक-पाठिकाओं, महात्माओं, विद्वानों एवं विचारकोंको यह ज्ञात हो ही गया होगा कि जनवरी १९७४ के विशेषाङ्कके रूपमें 'श्रीगणेश-अङ्क'के प्रकाशनका निश्चय हुआ है। सबसे हमारी विनम्र प्रार्थना है कि वे सदाकी भाँति अपना अमूल्य सहयोग हमें प्रदान करें, जिससे भगवान् श्रीगणेशकी यह अर्चना सर्वाङ्गपूर्ण बन सके।

विशेषाङ्कमें कौन-कौन-से विषय रहेंगे, इसका दिग्दर्शन करानेके लिये एक संक्षिप्त विषय-सूची नीचे दी जा रही है। सम्मान्य लेखक महानुभाव चाहें तो विषय-सूचीके अतिरिक्त श्रीगणेश-सम्बन्धी किसी अन्य विषयपर भी लेख भेज सकते हैं। लेख स्पष्ट, सुवाच्य, संक्षिप्त—लगभग ५ पृष्ठोंका एवं विषयसे सम्बद्ध होना चाहिये। लेख हिंदी, संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती अथवा अंग्रेजी—किसी भी भाषामें लिखा हुआ हो सकता है।

सैकड़ों लेखोंको पढ़ने तथा, उनमेंसे छापनेयोग्य सामग्रीको छाँटने, सजाने, चित्र तैयार कराने तथा डेढ़ लाखसे अधिक प्रतियाँ मुद्रित करनेमें लगभग ५-६ महीनेका समय अपेक्षित होता है। अतएव लेखक महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना है कि वे अपनी बहुमूल्य रचनाएँ अधिक-से-अधिक जुलाईके अन्ततक अवश्य भेज दें, जिससे अङ्क समयपर तैयार हो सके। विलम्बसे आनेवाली रचनाओंको उचित स्थानपर सजाने अथवा उन्हें स्वीकार करनेमें कठिनाई होगी। बड़ी ही विनम्रताके साथ यह निवेदन है कि लेख भेजनेका कष्ट वे ही महानुभाव करें, जिनका विषयपर अधिकार हो, जो लेखनकलासे परिचित हों तथा जो अपने भावोंको सुचारुरूपसे सुपाठ्यरूपमें व्यक्त कर सकें। आशा है, सम्मान्य लेखक महानुभाव सदाकी भाँति अपना उदार सहयोग हमें प्रदान करेंगे।

—चिम्मनलाल गोस्वामी

'श्रीगणेश-अङ्क'की प्रस्तावित संक्षिप्त विषय-सूची

१—श्रीगणेश-तत्त्व
२—सच्चिदानन्दरूप श्रीगणेश
३—मङ्गलमूर्ति श्रीगणेश
४—त्रिभुवन-मङ्गल-करण श्रीगणेश
५—श्रीगणेश निर्गुण ब्रह्म
६—श्रीगणेश सगुणरूपमें
७—शिव-शक्ति-तत्त्वसे श्रीगणेश-तत्त्वका आविर्भाव
८—गणपति और महागणपति
९—तारक-तत्त्व और श्रीगणेश
१०—श्रीगणेश अनादिसिद्ध देवता
११—यज्ञरूप श्रीगणेश
१२—योगाधीश्वर श्रीगणेश
१३—भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीगणेश-रूपमें
१४—निधिपति श्रीगणेश
१५—श्रीगणेशकी अग्रपूजाका रहस्य
१६—ज्ञान-बुद्धिके प्रदाता श्रीगणेश-सरस्वती
१७—भगवान्‌के यशोगायकोंमें श्रीगणेशका स्थान
१८—श्रीगणेशका दिव्य सौन्दर्य
१९—श्रीगणेश गजवदन क्यों ?
२०—श्रीगणेशकी वक्रतुण्डताका रहस्य
२१—श्रीगणेश एकदन्त क्यों ?
२२—श्रीगणेश शूर्पकर्ण क्यों ?
२३—श्रीगणेशकी लम्बोदरताका रहस्य
२४—विविध गणपति—उच्छिष्ट-गणपति, संतान-गणपति, हरिद्रा-गणपति आदि
२५—विविध विनायक—साक्षिविनायक, सिद्ध-विनायक, बुद्धिविनायक आदि
२६—'गण' एवं 'गणेश' शब्दके वाचिक,

लक्षणात्मक, व्यञ्जनात्मक, अभिधात्मक सामान्य-विशेष अर्थ
२७–श्रीगणेशके प्रधान १२ नाम और उनके विस्तृत अर्थ
२८–श्रीगणेशके २१ नाम और उनके विस्तृत अर्थ
२९–श्रीगणेशके १०८ नाम और उनके विस्तृत अर्थ
३०–श्रीगणेशके विभिन्न सहस्रनाम
३१–श्रीगणेशका अद्भुत ऐश्वर्य एवं वैभव
३२–अगणित-गुण-गण-निलय श्रीगणेश
३३–१८ विद्याओं, १८ लिपियों एवं ६४ कलाओंके ज्ञाता एवं दाता श्रीगणेश
३४–धर्ममूर्ति और धर्मरक्षक श्रीगणेश
३५–मातृ-पितृ-भक्त श्रीगणेश
३६–मोदक-प्रिय एवं मोदप्रद श्रीगणेश
३७–देवभक्त श्रीगणेश
३८–'सिद्धि-सदन' श्रीगणेश
३९–'कृपासिंधु सुंदर सब लायक' श्रीगणेश
४०–श्रीगणेश विघ्नेश्वर तथा विघ्नविनाशक
४१–श्रीगणेशके विभिन्न अवतार—यथा मयूरेश्वर गणेश, धूम्रकेतु गणेश, कश्यपपुत्र गणेश आदि
४२–श्रीगणेशकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक कथाएँ
४३–श्रीगणेश-चरित—बाललीलाएँ, विवाह, युद्ध आदि
४४–श्रीगणेशद्वारा महाभारत-लेखन-कार्य
४५–श्रीशिव-परिवारमें श्रीगणेश
४६–श्रीगणेशके पिता श्रीशंकर
४७–श्रीगणेशकी माता श्रीपार्वती
४८–श्रीगणेशके अनुज श्रीकार्तिकेय
४९–श्रीगणेशकी मोहिनी, ज्वालिनी, उग्रा, कामदा आदि विभिन्न शक्तियाँ
५०–श्रीगणेशकी पत्नियाँ—सिद्धि-बुद्धि
५१–श्रीगणेश-परिवार-परिचय
५२–श्रीगणेश-परिकर-परिच्छेद
५३–श्रीगणेशके गणोंका संघटन और कार्य
५४–श्रीगणेशजीके अलंकार, आभूषण, अङ्गराग आदि
५५–श्रीगणेशका नैवेद्य—मोदक
५६–श्रीगणेशके आयुध और उनका रहस्य
५७–श्रीगणेशका वाहन मूषक और उसका रहस्य
५८–वेदोंमें श्रीगणेश
५९–उपनिषदोंमें श्रीगणेश
६०–स्मृतियोंमें श्रीगणेश
६१–पुराणोंमें श्रीगणेश
६२–धर्मसूत्रोंमें श्रीगणेश
६३–श्रौत-स्मार्त-गृह्य-सूत्रोंमें श्रीगणेश
६४–योग-ग्रन्थोंमें श्रीगणेश
६५–मन्त्र-शास्त्रमें श्रीगणेश
६६–आगमोंमें श्रीगणेश
६७–ज्योतिषशास्त्रमें श्रीगणेश
६८–चित्रकलामें श्रीगणेश
६९–संगीत-शास्त्रमें श्रीगणेश
७०–नाट्य-काव्यमें श्रीगणेश
७१–इतिहासमें श्रीगणेश
७२–अर्वाचीन संस्कृत-साहित्यमें श्रीगणेश
७३–हिंदी-साहित्यमें श्रीगणेश
७४–गोस्वामी तुलसीदासजीद्वारा श्रीगणेश-स्मरण
७५–लोकगीतों एवं लोकाचारमें श्रीगणेश
७६–पाश्चात्योंद्वारा श्रीगणेश-स्मरण
७७–भारतके विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायोंमें श्रीगणेश
७८–गाणपत्य-सम्प्रदायकी दार्शनिक पृष्ठभूमि
७९–गाणपत्य-सम्प्रदायकी मान्यताएँ एवं विशेषताएँ
८०–गाणपत्य-सम्प्रदायके प्रमुख आचार्यों, विद्वानों आदिका परिचय
८१–श्रीगणेश-लोकका स्थान एवं वर्णन
८२–विभिन्न श्रीगणेश-क्षेत्र
८३–भारतमें श्रीगणेश-सम्बन्धी तीर्थ, मन्दिर आदि
८४–भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें श्रीगणेश-उपासना
८५–विदेशोंमें श्रीगणेश-उपासना
८६–श्रीगणेश-विग्रह एवं प्रतिमाओंका विवेचन
८७–स्थापत्य एवं मूर्तिकलामें श्रीगणेश
८८–श्रीगणेशकी गोमय-प्रतिमाका रहस्य
८९–पञ्चदेवोपासनाका स्वरूप एवं उसमें श्रीगणेशका स्थान
९०–श्रीगणेशके विभिन्न रूपोंका ध्यान एवं प्रयोजन
९१–कर्मकाण्डमें श्रीगणेश

कर्मकी गहनता

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति। शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम्॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति। करोति कुर्वतः कर्मच्छायेवानुविधीयते॥
येन येन यथा यद् यत् पुरा कर्म समीहितम्। तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना॥
स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्। भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च। स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम्॥
सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ। प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः॥
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्। गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम्॥
बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम्। तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं प्रतिपद्यते॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १२१। ८—१६)

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, उसका वह कर्म उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो उसका कर्म भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है तब उसका कर्मफल भी उसके साथ ही सो जाता है, जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है, तब उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता, सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है। जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है। अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, जो कर्मजनित अदृष्टके द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस कर्मफलको प्राणिसमुदायके पास खींच लाता है। जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते। सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं। दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्वशरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है। कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्ममें उसी-उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल उसे प्राप्त होता है। जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है।

धन्य 'रामचरित्रमानस', धन्य तुलसीदास !

(रचयिता—कविवर श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त)

देखकर सहसा हमारी साधना म्रियमाण,
　　जिस कमण्डलुके अमृतने थे बचाये प्राण।
वह तुम्हारे हाथमें था, साधु तुलसीदास !
　　जी उठी फिर भावना, दृढ़ हो गया विश्वास ॥

जब तमोमय शून्यमें भय-दृश्य थे सब ओर,
　　जब निराशाकी घटाएँ कर रही थीं घोर।
तब तुम्हींने था किया 'मानस'-सरोज-विकास,
　　कवि कहें या रवि तुम्हें, हे अमर तुलसीदास !

हो गया अब आदिकविका मार्ग दुर्गमनीय,
　　सुगम तुमने ही किया, करके उसे कमनीय।
मुक्त जीवन-धन लिये हो जायँगे हम पार,
　　देखता रह जायगा संसार-पारावार !

रम्य रामचरित्र भी तुमसे हुआ कृतकार्य,
　　आर्द्र होते हैं जिसे सुन आर्य और अनार्य।
काव्यसे इतिहास हैं, इतिहाससे हैं तन्त्र,
　　तन्त्रसे फिर हैं तुम्हारे वाक्य दैनिक मन्त्र।

पैठ संस्कृत-सिन्धुमें पाये जहाँ जो रत्न,
　　ग्रथित करनेमें उन्हें करके अलौकिक यत्न।
हार जो तुमने दिये इस देशको उपहार—
　　कर सकेगा कौन उनके मूल्यका निर्धार ?

प्रस्फुटित करके हमारा पूर्ण पूर्णादर्श,
　　हृदयको तुमने दिया है अमृत-हस्तस्पर्श।
राम राजा ही नहीं, पूर्णावतार पवित्र,
　　पर न हमसे भिन्न है साकेतका गृहचित्र ॥

है हमारे अर्थ बस, आदर्श ही आराध्य,
　　और साधन भी उसीका है हमारा साध्य।
जो हमारे सामने कर दे उसे प्रतिभात,
　　है वही तुम-सा हमारा विश्वकवि विख्यात ॥

प्रकृति-पटपर धन्य यह अन्तर्जगत्का दृश्य,
　　धन्य वह संगीतमय सत्काव्य हृदय-स्पर्श।
धन्य भारतवर्षका प्रतिभा-प्रकाश-विलास,
　　धन्य 'रामचरित्रमानस', धन्य तुलसीदास !

'मानस'से धर्म और अध्यात्मविद्याका विस्तार

[देशरत्न डॉ० श्रीराजेन्द्रप्रसादजी]

तुलसीदासजीने रामचरितमानसकी रचना करके संसारका बहुत बड़ा उपकार किया है। जो शास्त्र और दर्शनके ग्रन्थ संस्कृतमें लिखे गये थे, वे साधारण जनताके लिये संस्कृतका प्रचार कम हो जानेसे प्रायः लुप्त-से हो गये थे; उनके पठन-पाठनका काम बहुत थोड़े पण्डितोंके लिये ही रह गया था। जहाँ-तहाँ कथाके रूपमें उनको लोग सुना करते थे। पर केवल इस प्रकारसे कानसे सुना हुआ मौखिक ज्ञान ही साधारण जनताको उपलब्ध हो सकता था। ऐसे अवसरपर गुसाईंजीने सारे शास्त्रों और दर्शनोंको मन्थन करके जो नवनीत निकाला, उसे हिंदी भाषामें जनताके लिये उपस्थित कर दिया। जिस दिन मानसकी रचना हुई, उस दिनसे आजतक न मालूम कितने अनगिनत नर-नारियोंको इससे आध्यात्मिक लाभ पहुँचा है और आज भी पहुँच रहा है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि पिछले तीन सौ वर्षोंमें सभी शास्त्रों और दर्शनोंका काम केवल मानसने उत्तरी भारतकी साधारण जनताके लिये किया है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

उत्तर भारतमें रामायण-पाठकी परिपाटी है। सवेरे नित्यकर्मके बाद और रात्रिको लोग इसे अकेले अथवा जमात बाँधकर पढ़ा करते हैं; और लाखों ऐसे देहाती भी हैं, जो अक्षरज्ञान नहीं रखनेपर सुन-सुनकर और गोलमें गा-गाकर रामायणको बहुत-सी चौपाइयाँ मुखस्थ करके रक्खे हुए हैं, जिनको वे समय-समयपर दुहराया करते हैं। तुलसीदासजीके शब्दोंमें वह शक्ति है, जो केवल भक्त और महात्माके शब्दमें ही हो सकती है। यही कारण है कि आज इतने दिनोंके बाद भी रामायणको लोग गाते हैं प्रेमसे, भक्तिसे और श्रद्धापूर्वक। यही कारण है, इस मानससे अनेकानेक स्त्री-पुरुष संसारका बेड़ा पार लगानेमें सहायता पाते आये हैं। तुलसीदासजीने मानसको एक भक्तके उद्धारके ही रूपमें लिखा था और सच्चे भक्तके उद्धार होनेके कारण ही इसके शब्दोंमें वह शक्ति है।

पर जो भक्त नहीं हैं, उनके लिये भी इसमें इतना काव्य है, इतनी मधुरता है, रसोंका इतना सुन्दर मिश्रण है और कलाका इतना विकास है कि संसारके बड़े-से-बड़े काव्योंसे यह टक्कर ले सकता है। जो केवल काव्य-रस लेना चाहें, वे भी इसे पढ़ सकते हैं और पढ़ते हैं और उस रसास्वादनसे कृतकृत्य होते हैं। मैं तो यह भी मानता हूँ कि काव्यकी दृष्टिसे इस उत्कृष्ट ग्रन्थके पढ़नेवाले भी अन्तमें कुछ-न-कुछ भक्तिरसमें पगे बिना नहीं रह सकते। जो इसका श्रद्धापूर्वक धार्मिक दृष्टिसे पठन करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है। अंग्रेजीके एक विद्वान् (Addison) ने अपने एक लेखमें लिखा है कि उनकी इच्छा थी कि दर्शनोंके उच्चातिउच्च सिद्धान्त साधारण लोगोंके लिये ये दार्शनिकोंके पुस्तकालयोंसे लाकर सड़कोंपर बिखेर दें। उनकी यह अभिलाषा उनके लेखोंद्वारा पूरी हुई या नहीं, इसका तो पता नहीं; पर इसमें संदेह नहीं है कि तुलसीदासजीने धर्म और अध्यात्मविद्याके उच्चातिउच्च सिद्धान्तोंको सुन्दर, सुललित और सहज भाषामें केवल सड़कोंपर ही नहीं, गाँव-गाँवमें, घर-घरमें बिखेर दिया है और वह भी इस प्रकारसे कि कोई अनजान भी उनसे बिना लाभ उठाये नहीं रह सकता।

'मानस'का संदेश

'जनम जनम रति राम पद'

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके 'श्रीरामचरितमानस'का मानवमात्रके लिये संदेश यही है कि जन्म-जन्ममें भगवान् श्रीसीतारामजीके श्रीचरणोंकी प्रीति ही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है। 'मानस'के अनेक श्रेष्ठ पात्र बार-बार श्रीपद-रतिकी ही याचना करते हैं एवं प्रेरणा देते हैं कि प्रत्येक मानवको इसके लिये ही कामना एवं प्रार्थना करनी चाहिये—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(भगवान् शंकर)

मैं आपसे बार-बार यही वरदान माँगता हूँ कि मुझे आपके चरण-कमलोंकी अचल भक्ति और आपके भक्तोंका सत्सङ्ग सदा प्राप्त हो। हे लक्ष्मीपते! हर्षित होकर मुझे यही दीजिये।

खल खंडन मंडन रम्य छमा। पद पंकज सेवित संभु उमा॥
नृप नायक दे वरदानमिदं। चरनाबुंज प्रेमु सदा सुभदं॥ (ब्रह्मा)

आप दुष्टोंका खण्डन करनेवाले और पृथ्वीके रमणीय आभूषण हैं। आपके चरण-कमल श्रीशिव-पार्वती-द्वारा सेवित हैं। हे राजाओंके महाराज! मुझे यह वरदान दीजिये कि आपके चरण-कमलोंमें सदा मेरा कल्याण-दायक (अनन्य) प्रेम हो।

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं।
मन वचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

(वेद-चतुष्टय)

ब्रह्म अजन्मा है, अद्वैत है, केवल अनुभवसे ही जाना जाता है और मनसे परे है—जो (इस प्रकार कहकर उस) ब्रह्मका ध्यान करते हैं, वे ऐसा कहा करें और जाना करें; किंतु हे नाथ! हम तो नित्य आपके सगुण रूपका ही यश गाते हैं। हे करुणाके धाम प्रभो! हे सद्गुणोंकी खान! हे देव! हम यह वर माँगते हैं कि मन, वचन और कर्मसे विकारोंको त्यागकर आपके चरणोंमें ही प्रेम करें।

लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥
अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥

(मुनि भरद्वाज)

लाभकी सीमा और सुखकी सीमा (प्रभुके दर्शनको छोड़कर) दूसरी कुछ भी नहीं है। आपके दर्शनसे मेरी सब आशाएँ पूर्ण हो गयीं। अब कृपा करके यह वरदान दीजिये कि आपके चरण-कमलोंमें मेरा स्वाभाविक प्रेम हो।

अनूप रूप भूपतिं। नतोऽहमुर्विजा पतिं॥
प्रसीद मे नमामि ते। पदाब्ज भक्ति देहि मे॥ (मुनि अत्रि)

हे अनुपम सुन्दर! हे पृथ्वीपति! हे जानकीनाथ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मुझपर प्रसन्न होइये, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। मुझे अपने चरण-कमलोंकी भक्ति दीजिये।

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥　　(मुनि वसिष्ठ)

हे नाथ ! हे श्रीरामजी ! मैं आपसे एक वर माँगता हूँ, कृपा करके दीजिये । प्रभु (आप)के चरण-कमलोंमें मेरा प्रेम जन्म-जन्मान्तरमें भी कभी न घटे ।

मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥
बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥　　(जनकराज)

हे रघुनाथजी ! सुनिये, मेरे सौभाग्य और आपके गुणोंकी कथा कहकर समाप्त नहीं की जा सकती । मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह अपने इस एक ही बलपर कि आप थोड़े प्रेमसे प्रसन्न हो जाते हैं । मैं बार-बार हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरा मन भूलकर भी आपके चरणोंको न छोड़े ।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ।
जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥　　(वाली)

हे नाथ ! अब करुणापूर्ण दृष्टिसे मेरी ओर निहारिये और मैं जो वर माँगता हूँ, उसे दीजिये । मैं कर्मवश जिस योनिमें भी जन्म लूँ, वहीं श्रीरामजी (आप)के चरणोंमें प्रेम करूँ ।

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागउँ बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना॥　　(सती अहल्या)

प्रभो ! मैं बुद्धिकी बड़ी भोली हूँ, मेरी एक विनती है—नाथ ! मैं और कोई वर नहीं माँगती, केवल यही चाहती हूँ कि मेरा मनरूपी भौंरा आपके चरण-कमलकी रजके प्रेमरूपी रसका सदा पान करता रहे ।

अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं। श्रीरघुबीर चरन रति चहहीं॥
×　　×　　×　　×
जेहिं जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥
(अवधवासीगण)

वे दिन-रात ब्रह्माजीको मनाते रहते हैं और [उनसे] श्रीरघुवीरके चरणोंमें प्रीति चाहते हैं । वे कहते हैं—'भगवान् हमें यही दें कि हम अपने कर्मवश भ्रमते हुए जिस-जिस योनिमें जन्में वहाँ-वहाँ (उस योनिमें) (भगवान् हमपर यही कृपा करें कि) हम तो सेवक हों और सीतापति श्रीरामचन्द्रजी हमारे स्वामी हों और यह नाता अन्ततक निभ जाय ।'

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥　　(भरत)

मुझे न अर्थकी रुचि (इच्छा) है, न धर्मकी, न कामकी और न मैं मोक्ष ही चाहता हूँ । जन्म-जन्ममें मेरा श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो, बस, यही वरदान माँगता हूँ, दूसरा कुछ नहीं ।

मानवता और रामचरितमानस

(लेखक—डा० श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०, डी० लिट्०)

रामचरित भारतीय संस्कृतिका सर्वाधिक लोकप्रिय आख्यान रहा है। तुलसीकी लोकव्यापिनी दृष्टिने रामकथाकी सारी परम्पराओंको समेटते हुए आध्यात्मिकताका पुट देकर रामको आदर्श मानवके रूपमें प्रतिष्ठित किया। इसके फलस्वरूप एक व्यक्तिकी जीवनगाथा होते हुए भी उसने धर्मग्रन्थकी महत्ता प्राप्त कर ली। विश्व-साहित्यमें अन्य किसी मानव-रचित काव्यग्रन्थको यह गौरव प्राप्त हुआ हो, यह देखनेमें नहीं आता। तुलसीने उसके पठन, श्रवण और रसास्वादनको आत्मशोधन एवं भव-संतरणका सर्वसुगम साधन कहकर प्रकारान्तरसे निगमागम एवं पुराणोंकी भाँति ही उसकी पावनता प्रतिपादित की है और लोक-मानसने उनके इन वचनोंको ब्रह्मवाक्यके रूपमें ग्रहण किया है—

चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥

× × ×

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥
मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

× × ×

राम सुप्रेमहि पोषत पानी। हरत सकल कलि कलुष गलानी॥
भव श्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा॥

× × ×

सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥

× × ×

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

पूर्ववर्ती रामकथाश्रित प्रबन्धोंमें कहीं ऐतिहासिक, कहीं दार्शनिक, कहीं सांस्कृतिक और कहीं साहित्यिक दृष्टिकोणको प्रधानता दी गयी थी। तुलसीने एकाङ्गितासे बचकर रामचरितमें मानव-जीवनकी महत्त्वपूर्ण समस्याओंका आत्यन्तिक समाधान प्रस्तुत करनेवाले सूत्रोंको उजागर किया। पूर्ण सुख, शान्ति एवं समृद्धिसे सम्पन्न समाजका निर्माण अधूरे, विरूप तथा अभावग्रस्त मानवद्वारा सम्भव नहीं; इसलिये उन्होंने पथभ्रान्त मानवताके समक्ष पूर्ण मानवके आदर्श रामका चरित रखा—ऐसे महापुरुषकी जीवन-झाँकी प्रस्तुत की, जिसने राजपदके वैभव-विलाससे असम्पृक्त रहकर दानवतासे पराभूत और सभ्यताके प्रकाशसे वञ्चित मानवताके उत्थानके लिये दर-दरकी खाक छानी थी। विश्व-मानवके प्रति इस अगाध करुणा एवं मैत्री-भावनाके कारण देश-कालकी बदलती परिस्थितियोंमें समय-समयपर मानवताके जो भी उत्कृष्टतम प्रतिमान निर्धारित होंगे, 'मानस'के राम उससे सदा ही कुछ ऊपर और कुछ आगे दिखायी देंगे।

प्रेरणा एवं आधार

रामचरितको आदर्शके रूपमें अपनानेकी प्रेरणा तुलसीको समकालीन समाजके विभिन्न वर्गों एवं स्तरोंके गहरे अध्ययन तथा निजी अनुभवसे प्राप्त हुई थी। उनकी बाल्यावस्था घोर दरिद्रतामें कटी थी, वैराग्य धारण करनेके बाद उन्होंने तीर्थाटन करते हुए सारे देशका भ्रमण कर जन-जीवनका बहुत ही निकटसे निरीक्षण किया था। सत्सङ्गके क्रमसे उन्हें विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायोंके अनुयायियोंके आचार-विचारके पर्यवेक्षणका अवसर प्राप्त हुआ था। जीवनके परवर्ती वर्षोंमें, जब वे 'तुलसी'-से ऊपर उठकर 'गोसाईं' हुए, तब बड़े-बड़े राजा-महाराजा उनका चरण-वन्दन कर कृतार्थ होते थे; इस माध्यमसे सामन्तीय वर्गसे भी उनका परिचय हुआ। इस प्रकार समकालीन समाजके विविध वर्गों और प्रवृत्तियोंके व्यक्तियोंकी जीवन-सरणि तथा विचार-पद्धतिका आन्तरिक परिचय प्राप्त कर लेनेपर उन्होंने अनुभव किया कि समाजका पूरा शरीर एक घातक सड़नका शिकार हो रहा है। धार्मिक भावनाके व्यापक ह्राससे उसके मूलाधार जप, योग तथा वैराग्य तिरोहित हो गये हैं, स्वाध्यायकी परम्परा समाप्त हो चुकी है; आये दिन नये-नये पंथों और सम्प्रदायोंकी स्थापना हो रही है; यज्ञ-दानादि कर्मोंका अनुष्ठान अर्थाभावके कारण बंद हो रहा है; पाखण्डी लोग धार्मिक आचार-विचारके नाशका कारण बन रहे हैं; वर्णाश्रम-धर्म लड़खड़ा रहा है और लोकमर्यादाके मस्तूल ढह रहे हैं; सारा धार्मिक समाज दुर्वासनाओंका शिकार हो रहा है; राजवर्ग बड़ा ही छली है; वह प्रजाकी रक्षा करनेके स्थानपर उसे निगल जानेपर उतारू है; नित्य नये करोंसे जनताकी रीढ़ टूट गयी है; आर्थिक शोषणसे निर्धनता बढ़ रही है; निरन्तर पड़नेवाले दुर्भिक्षोंसे मनुष्यका अस्तित्व ही खतरेमें पड़ गया है; सभी वर्णोंके लोगोंमें चरित्रहीनता फैल गयी है; व्यक्तिगत तथा सामाजिक आचारके पतनसे चारों ओर अव्यवस्थाका ताण्डव आरम्भ हो गया है; समाजमें विषमता इतनी बढ़ गयी है कि एक ओर वैभव नालियोंमें बह रहा है तो दूसरी ओर लोग दाने-दानेको तरस रहे हैं। मर्यादा तथा निष्ठाके

अभावमें जन-जीवन विच्छिन्न हो गया है। मानवीय मूल्योंको समाप्त करनेवाली सम-सामयिक परिस्थितिका तुलसीने बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। विनाशकारी युग-प्रभावको उन्होंने 'कलि' के नामसे अभिहित किया है और इसका मूल कारण आसुरी वृत्तियोंका उत्तरोत्तर विकास बताया है।

इस दयनीय स्थितिसे समाजका उद्धार करनेके लिये उन्होंने शतियोंके विधर्मी शासनके परिणामस्वरूप जन-मानसमें प्रतिष्ठित हीन भावना, भय, निराशा, रूढ़िप्रियता, अविश्वास, संदेह आदिको दूर करना आवश्यक समझा। इसके बिना आतङ्कित एवं दलित जनतामें अत्याचार, अधर्म और अनैतिकताको प्रोत्साहित करनेवाली शक्तियोंसे लोहा लेनेकी शक्तिका संचार करना असम्भव था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस उद्देश्यकी सिद्धि मात्र तत्त्वज्ञानके उपदेशों और कीर्तन-भजनके आयोजनोंसे नहीं हो सकती थी। वेदोपनिषद्, स्मृतियाँ और पुराण तब भी पढ़े-सुने जाते थे; भागवतधर्म तथा निर्गुणिया संतों और सूफी फकीरोंके असंख्य अनुयायी उस युगमें भी धर्मग्रन्थोंके स्वाध्याय और साधनामें काल-यापन करते थे। रामभक्ति और कृष्णभक्तिके केन्द्रोंमें आराध्य युगलकी लीलाके गान और प्रदर्शनकी परम्परा भी अक्षुण्ण रूपसे चली आ रही थी। विभिन्न दार्शनिक मतवादोंके अनुयायी संन्यासी तथा गृहस्थ तत्त्वनिरूपण—शास्त्रार्थ आदिसे ज्ञानकी ज्योति प्रज्वलित रखनेमें यथाशक्ति अंशदान करते थे। फिर भी अन्धकार बढ़ता जा रहा था। विनय-पत्रिकामें एक स्थानपर इसका संकेत मिलता है—

वाक्य-ग्यान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीपकी बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

ऊँचे सिद्धान्त और विचार व्यवहार-भूमिमें उतरकर ही लोक-कल्याणके साधन बनते हैं। जन-मानसका विश्लेषण करनेपर उन्हें लगा कि इसका कारण नैतिकताके मूर्त आदर्शका अभाव है—सामान्य लोग अमूर्त सिद्धान्त और विचारोंसे, चाहे वे कितने भी उत्कृष्ट और उपादेय क्यों न हों, प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकते। सूरदासकी निम्नाङ्कित पङ्क्तियोंमें समकालीन लोक-मानसकी किंकर्तव्यविमूढ़ावस्था-की छाया देखी जा सकती है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालंब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

युगीन वातावरणका सम्यक् आकलन करनेके बाद तुलसीने अपने गम्भीर शास्त्रज्ञानके द्वारा यह अनुभव किया कि भारतके सांस्कृतिक इतिहासमें कुछ इसी प्रकारका गतिरोध अति प्राचीन कालमें उपस्थित हुआ था, जब रावणके अत्याचारोंसे समस्त चराचर जगत् नारकीय यातना भोग रहा था। पृथ्वी माता उस समय गौके रूपमें जगन्नियन्ताके समक्ष उपस्थित हो त्राणकी भिक्षा माँगनेके लिये विवश हुई थी और परात्पर ब्रह्मने करुणार्द्र हो धर्मसंस्थापनाके लिये मानवावतार धारण करनेका वचन देकर उसे आश्वस्त किया था। त्रेतायुगका श्रीरामावतार इसीका परिणाम था। लोक-मर्यादाके संस्थापक श्रीरामका जीवनादर्श अपनानेसे ही विधर्मी शासनद्वारा निर्मित आसुरी वातावरणपर विजय प्राप्त की जा सकती है और परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें जकड़ी भारत-भूमिका उद्धार किया जा सकता है—यह उनका स्पष्ट मत था—

भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र॥

× × ×

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥

× × ×

यह रावनारि चरित्र पावन राम पद रतिप्रद सदा।
कामादिहर बिग्यानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥

× × ×

भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

× × ×

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

ऐसी अनेक उक्तियोंद्वारा तुलसीने सारी सामाजिक विसंगतियों और उनके प्रेरक मानसिक विकारोंको दूर करनेमें रामकथाके अद्भुत प्रभावका उल्लेख किया है। इससे हताश लोगोंमें यह विश्वास जगा कि दुःशासन एवं दुर्व्यवस्था, चाहे वह कितनी ही मूलबद्ध और शक्तिशाली क्यों न हो, अन्ततः समाप्त होकर ही रहेगी। इस भावनासे प्रजामें संघर्ष करनेकी ऊर्जा एवं अत्याचारी शासकको दण्डनीय घोषित करनेका साहस उत्पन्न हुआ—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥'

रामचरितमानसने सर्वमानवीय मुक्तिके लिये अन्तः-शक्ति उद्बुद्ध कर दानवी वृत्तियोंपर विजय पानेका पथ प्रशस्त कर दिया।

विराट् लक्ष्य

शब्दशक्तिसे मानवताको प्रभावितकर अधःपतित समाजको ऊपर उठानेका ऐसा महान् लक्ष्य उसी सर्वात्मदर्शी कृतिकारका हो सकता है, जिसका मानस पीड़ित मानवताकी हृत्तन्त्रीसे सम्पृक्त हो चुका हो, जिसका 'स्व' विराट् 'अहं'में और 'विराट् अहं' जिसके 'स्व'में विलीन हो गया हो। उसीका 'स्वान्तःसुखाय' 'सर्वान्तःसुखाय' बननेका गौरव प्राप्त कर सकता है। यह 'अन्तःसुख', 'निज सुख', 'शान्ति' अथवा 'परम विश्राम' ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है, यही आत्मोपलब्धि है। तुलसीने इसका आस्वादन किया था—

जाकी कृपा लवलेस ते मति मंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

अवतार-निष्ठामें मानवतावादी दृष्टि

अवतारवाद मानवतावादका ही नामान्तर है, यह अवतार-धारण करनेके प्रयोजनकी मीमांसासे ही स्पष्ट हो जाता है—यहाँतक कि मानवेतर योनियों—मत्स्य, कच्छप, वराहमें भी भगवान् विष्णुके अवतार आततायियोंका संहार करके मानवधर्मकी संस्थापनाके लिये ही हुए थे।

मानवावतार—मानवताको गौरवदान

मानव विश्वकर्ताकी उत्कृष्टतम सृष्टि है। कर्मसम्पादनकी क्षमतासे मण्डित होनेके कारण मनुष्य-देह ही भवसंतरणका एकमात्र साधन माना गया है। धर्म-साधनासे इसे स्वर्गापवर्गकी प्राप्ति होती है और ज्ञान-विज्ञान प्राप्तकर यह मोक्षका अधिकारी हो जाता है। मानव-शरीरकी प्राप्ति बड़े भाग्यसे होती है। तुलसीने इसे देवदुर्लभ माना है; कारण कि भगवत्कृपाका प्रकाश मानवपर ही होता है, देवता इससे वञ्चित रहते हैं। इसीलिये परात्पर ब्रह्मके दोनों पूर्णावतार—राम और कृष्ण—मानवावतार ही हैं। अन्य अवतारोंसे इनके उत्कर्षका कारण अपेक्षाकृत अद्भुत तत्त्वका गोपन एवं सहजताका प्रकाश है। लोक-शिक्षा परमात्माके मर्त्यावतारका मुख्य लक्ष्य होता है। उसकी सिद्धि लोकवत् व्यवहारसे ही सम्भव है। रामकी अवतार-लीलाके वर्णनमें तुलसीने यथासम्भव अलौकिकताके प्राकट्यको बचाया है। यदि उसका प्रकाशन कहीं हुआ भी है तो व्यक्तिविशेषके लिये और स्थानविशेषमें—सबके समक्ष और सबके लिये नहीं। और वह भी इसलिये कि कहीं पाठक इसे वीरपूजाके रूपमें वर्णित प्राकृत मानवकी कहानी न समझ बैठें। यही कारण है कि आराध्यके नितान्त नरसुलभ व्यवहारों, उद्वेगों एवं आचरणोंका विवरण प्रस्तुत करते हुए वे निरन्तर उनके परात्पर ब्रह्मत्वका स्मरण दिलाते रहते हैं।

रामचरितमानसके मानव-सुलभ संवेग

रामचरितमानसमें अप्राकृत ब्रह्मकी प्राकृत लीलाका वृत्त प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थारम्भमें जिस लोकानुग्रह अथवा करुणाको निर्गुण ब्रह्मके सगुण रूप धारण करनेका मुख्य प्रेरक भाव बताया गया है, रामकथामें उसकी आद्योपान्त व्याप्ति दिखायी देती है। इसके अतिरिक्त अधैर्य, प्रलाप, विरहाकुलता, कठोरता, पक्षपात, ममता आदि मनोभावोंका भी उनके जीवनमें विशिष्ट अवसरोंपर उद्रेक दिखायी देता है। कहीं-कहीं तो वे इतने सहज ढंगसे अभिव्यक्त हुए हैं कि अवतारलीलासे उनका सम्बन्ध प्रतीत ही नहीं होता। श्रद्धालु पाठकोंतकको उन्हें परात्पर ब्रह्मकी नरलीला स्वीकार करनेमें कठिनाईका अनुभव होता है। जनसामान्य उनके पारमार्थिक रूपको भूलकर मात्र लौकिक चरित मानने लगें तो आश्चर्य ही क्या है। तुलसीने इस प्रकारकी सम्भावनाका अनुमान कर मानस-प्रेमियोंको सगुणलीलाकी रहस्यमयतासे सावधान रहनेकी चेतावनी देते हुए लिखा था—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

करुणा

श्रीरामकी शरणागत-वत्सलता और पतितपावनी प्रकृतिके व्यञ्जक जो वृत्तान्त रामचरितमानसमें संकलित हैं, प्रसङ्गकी समीक्षा करनेपर उन सबके मूलमें करुणाभावकी ही प्रधानता दिखायी देती है—गौतमके शापसे उनकी शिलाभूता पत्नी अहल्याका उद्धार, वालीके भयसे बन-खोहमें लुक-छिपकर जिंदगी काटनेवाले सुग्रीवकी रक्षा तथा उन्हें किष्किन्धाका राज्य देना, दण्डक-वनवासी मुनियोंको सर्वप्रकारेण संरक्षण प्रदान करनेका आश्वासन, नरभक्षी राक्षसोंद्वारा मारे गये ऋषियोंके अस्थिसमूहको देखकर पृथ्वीको राक्षसहीन करनेकी प्रतिज्ञा, शरणागत विभीषणको लङ्काके राज्यका दान आदि प्रसङ्गोंमें उस करुणा अथवा जीवोंके प्रति दया-भावकी अपूर्व छटा दिखायी देती है, जिससे रहित मनुष्यको पशु कहनेसे पशुता भी अपमानित होती है। श्रीरामकी इस करुणा-संवलित उदारताकी पराकाष्ठा दिखायी देती है राम-रावण-युद्धमें

उस अवसरपर, जब वे राक्षसोंको वैरभावसे स्मरण करनेवाले अपने भक्त बताकर रणक्षेत्रमें प्राण त्यागनेपर उन्हें मुनिदुर्लभ परमपद प्रदान करते हैं।

कृतज्ञता

गृध्रराज जटायुने रावणद्वारा हरी जाती हुई सीताकी रक्षामें प्राण अर्पित किये थे—श्रीरामने उनका अन्तिम संस्कार अपने हाथों किया, पिता दशरथसे भी अधिक ममता उनके प्रति दिखायी और अन्तमें उन्हें मुक्ति प्रदान की। इसी प्रकार हनुमान्‌द्वारा किये गये अनन्त उपकारोंका बोझ आजीवन ढोनेमें वे गर्वका अनुभव करते रहे।

दुर्बलताएँ

इन्हींके साथ रामावतार-लीलाके उन विशिष्ट स्थलोंकी ओर भी इङ्गित कर देना आवश्यक है, जिनमें मानव-सुलभ कमजोरियाँ खुलकर सामने आयी हैं। ये हैं—

(१) सीताहरणके पश्चात् वियोगी श्रीरामकी लौकिक विरही नायकोंकी भाँति विह्वलता एवं कामासक्तिका वर्णन।

(२) लक्ष्मण-शक्ति-प्रसङ्गमें मर्यादा तथा औचित्यकी सीमा पार करनेवाला प्रलाप।

(३) सीताकी अग्निपरीक्षाके समय श्रीरामका दुर्वाद-कथन।

(४) अखिल-ब्रह्माण्डनायक होते हुए भी एक स्थान-विशेष—अयोध्याके प्रति उनकी अगाध आसक्ति और वैकुण्ठसे भी उसकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन।

मानसके अध्येताओं, कथावाचकों और सहृदय गायकोंने श्रीरामकी भगवत्तापर प्रश्नचिह्न लगानेवाले इन प्रसङ्गोंकी विविध प्रकारसे व्याख्या कर अवतार-चरितकी अलौकिकताको अक्षुण्ण रखनेका प्रयास किया है। मेरे विचारमें इनकी यथार्थताको स्वीकार करनेसे भी रामचरितकी गरिमापर कोई आँच नहीं आती। लोक-हृदय उनकी पुरुषोत्तमताका पूजक है—देवत्वका नहीं। ये तथाकथित कमजोरियाँ रामको मानवी विशिष्टताओंसे मण्डित करती हैं—उन्हें दिव्य साकेतसे उतारकर विधि-प्रपञ्चकी रङ्गस्थली, गुणावगुण-समन्वित, जड-चेतन-संकुल उस धरतीपर ला खड़ा करती है, जिसका भार उतारनेके लिये ही ब्रह्म रामने अव्यक्तसे व्यक्त, असीमसे ससीम और नारायणसे नर होना स्वीकार किया था। तुलसी इसका मर्म जानते थे। वे इस खतरेसे भी अवगत थे कि अवतार-लीलाको तर्ककी कसौटीपर कसनेसे श्रद्धालु पाठक भटक जायँगे। इसीलिये उन्होंने इसका स्पष्ट शब्दोंमें निषेध किया था—

'चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥'

रामायणको 'मानस'का रूप देनेवाले शिवका भी यही अभिमत था—

'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥'

ऐसी बात नहीं कि वे अवतार-चरितकी असंगतियोंसे अपरिचित थे। एकाध स्थलोंपर उन्होंने स्वयं आराध्यके कृत्योंकी आलोचना की है—

जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥

मरणासन्न वालीके द्वारा भी इन्होंने रामके मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व और समदर्शिताको चुनौती दिलायी है—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास रामके परात्पर ब्रह्मत्वके समर्थक होते हुए भी उनकी मानवावतार-लीलाको साधारण लोगोंके चरितकी ही भाँति आलोच्य मानते हैं—इसलिये नहीं कि वे रामचरितकी उपर्युक्त न्यूनताओंकी यथार्थतामें विश्वास करते हैं, बल्कि यह दिखानेके लिये कि शेषके फनपर स्थित धरतीपर आकर यहाँकी मार्यादानुसार पूर्ण ब्रह्म भी अपना स्वरूप-गोपन कर अपूर्ण मानवका-सा ही व्यवहार करता है। इसीसे उनका चरित जनसाधारणके अनुकरणयोग्य बनता है और अवतार-प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

लोकानुप्रेरक जीवनदर्शनके मूलाधार

रामचरितमानसके लोकानुप्रेरक जीवन-दर्शनके मूल आधार हैं—राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान् आदि प्रमुख पात्रोंके चरितमें आद्योपान्त व्याप्त संयम, स्नेहशीलता, निश्छलता, सत्य-निष्ठा आदि मानवीय गुण। कथा-नायक होनेसे रामका चरित सर्वाधिक प्रशस्त है। व्यक्तिके रूपमें अक्षय आत्म-

---

१. पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥
(रामचरितमानस, उत्तर० १३० । २ श्लो०)

विश्वास, स्थितप्रज्ञता, अनासक्ति, कर्तव्यनिष्ठा, स्वावलम्बन, संगठनशक्ति, शौर्य, पराक्रम आदि तत्त्वोंसे समन्वित उनका अखण्ड तेजोमय जीवन, कुटुम्बीके रूपमें बड़ोंके प्रति श्रद्धा, समादर, आज्ञाकारिता और सेवापूर्ण व्यवहार तथा छोटोंपर स्नेह-कृपा एवं क्षमाशीलताकी अजस्र वर्षा, मित्रके रूपमें सौहार्दका आजीवन निर्वाह, राजाके रूपमें प्रजावर्गकी सुख-सुविधाका निरन्तर ध्यान, समत्वपर आधारित समाज-व्यवस्थाका प्रवर्तन, लोकमतका समुचित सत्कार, ऊँच-नीचका भाव त्यागकर वन्य जातियोंसे घनिष्ठ सम्बन्धकी स्थापना, समाजके विभिन्न वर्गोंके साथ सभी परिस्थितियोंमें शीलपूर्ण व्यवहारका निर्वाह, प्रत्यक्ष सम्पर्कसे कोल-किरातादि वन्यजातियोंका हृदय-परिवर्तन, मानव-समाजसे ही नहीं, पशु-पक्षियों तथा जड प्रकृतितकसे आत्मीयताकी स्थापना, व्यक्तिगत सुख-सुविधाओंको त्यागकर स्वेच्छया दुःख एवं विपत्ति-संकुल जीवनका वरण, असत् तथा अन्यायकी शक्तियोंसे आजीवन संघर्ष करते हुए अन्ततः केवल धर्मनिष्ठता तथा चारित्रिक बलसे भौतिकतावादी शक्तियोंपर विजय-प्राप्ति—आदि व्यापारोंमें उनकी लोकवादी साधना साकार हो उठी है।

पुराणोंके विष्णुने पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मानवावतार ग्रहणकर मानवताको गौरव दिया था। मानसके श्रीरामने अपनी लोकलीलामें मानवीय गुणोंके अद्भुत प्रकाशसे भगवत्ताकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। उनका मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व परात्पर ब्रह्मत्वका पर्याय बन गया। पहले भगवत्ता मानवतामें परिणत मात्र हुई थी। तुलसीके राममें वह पूर्णतया लीन हो गयी।

राम-भक्ति—मानवताकी अन्तिम शरणागति

रामकथाके व्यापक प्रचारद्वारा आध्यात्मिक वातावरणकी सृष्टि और उसका लोकमङ्गलमें विनियोग ही रामचरितमानसका मुख्य आग्रह है। तुलसीका यह दृढ़ विश्वास था कि इसके श्रद्धापूर्वक श्रवण-मननसे लोगोंके हृदयमें रामचरणोंमें प्रगाढ़ आसक्ति उत्पन्न होगी।

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥

मनोवैज्ञानिक पद्धति

इस धारणाकी पुष्टि बड़ी ही मनोवैज्ञानिक पद्धतिपर करते हुए वे कहते हैं—

'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥'

× × ×

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

परिचयसे विश्वास, विश्वाससे प्रीति, प्रीतिसे श्रद्धा और श्रद्धासे भक्ति—लौकिक प्रेम-भावनाकी भाँति ही आध्यात्मिक विकासकी भी यही प्रकृत प्रणाली है। 'मानस'में इन स्थितियोंका चित्रण ही नहीं हुआ है, हनुमान्, विभीषण, सुग्रीव, अङ्गद, शबरी आदिके चरित्रमें इनके विकासका भी निरूपण किया गया है। इस क्रमसे प्रतिष्ठित रामभक्ति साधकका अन्तर्मल धो देती है, जिससे जन्म-जन्मान्तरसे जमी हुई कुसंस्कारोंकी काई छूट जाती है। तुलसीका यह दृढ़ मत है कि अन्य किसी भी साधना-पद्धतिसे इनका अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं है—

'प्रेम भगति जल बिनु खगराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥'

संस्कार-मार्जन

प्रारब्धसे प्राप्त कुसंस्कारोंकी भाँति ही मनुष्य-जीवनको यातनामय बनानेवाले मोह-लोभ-काम-क्रोधादि मनोविकारोंके नाशकी भी रामभक्ति ही एकमात्र औषध है। इसके श्रद्धापूर्वक सेवनसे मानव-समाज मानसिक स्वास्थ्य-लाभ कर लौकिक उत्कर्ष और पारमार्थिक सिद्धिके पथपर अग्रसर हो सकता है।

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

× × ×

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी॥

× × ×

रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

× × ×

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू॥

ये पंक्तियाँ असंख्य मानस रोगोंसे ग्रस्त मानवताके प्रति तुलसीकी अपार सहानुभूति और उनके पंजेसे मानव-जीवनको मुक्त करनेके लिये उनके करुणार्द्र हृदयकी छटपटाहटको व्यक्त करती हैं।

रामभक्तिके विलक्षण प्रभावका वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि 'एक बार हृदयमें प्रतिष्ठित हो जानेपर फिर वह कभी जाती नहीं। उसका दिव्य प्रकाश अन्धकारमयी दुष्प्रवृत्तियोंका मूलोच्छेद कर देता है'—

खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥

× × ×

ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

सुगम मार्ग

इसकी सबसे बड़ी विशेषता है सुगमता और सुलभता। कर्म-ज्ञानादि साधनोंकी भाँति न तो यह अर्थसाध्य है, न प्रयत्नसाध्य। इसकी प्राप्तिकी एक मात्र शर्त है सरलता, निष्कपटता और संतोषवृत्तिपूर्ण जीवनचर्या—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई॥

इसके अधिकारी जीव मात्र हैं—

एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥

सर्वहाराका अवलम्ब

यों तो रामकी कृपादृष्टि सबपर सब समय और समान रूपसे रहती है, किंतु उसका विशिष्ट पात्र मानवताका वह वर्ग होता है, जो उपेक्षित है, अभावग्रस्त है और अधःपतित है। पतित-पावनके संस्पर्शसे वह निष्कलुष बन जाता है—

'सरन गएँ मो से अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥'

लोकोन्मुखी अध्यात्म-साधना

ऐसे भक्तवत्सलकी सेवक-सेव्यभावसे आराधना करके मनुष्य अनेक जन्मोंकी साधनाके अनन्तर कठिनतासे प्राप्य मुक्तिको अनायास-मात्र सम्मुखता-सम्पादनसे प्राप्त कर सकता है—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

× × ×

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

इस प्रकार रामभक्तिके माध्यमसे तुलसीने समाजको अध्यात्मोन्मुख करनेके लिये जिस महान् अनुष्ठानका सूत्रपात किया, उसका आधार व्यक्तिका अन्तःपरिष्कार था और रामभक्तिका प्रचार वैयक्तिक साधनाके रूपमें ही किया गया था। अधोमुखी समाजको ऊर्ध्वमुखी बनानेका यही मार्ग था। इसके माध्यमसे तुलसीने मानवताको एक नयी जीवन-दृष्टि दी, एक नया रास्ता दिखाया, जिसका अनुसरण करनेके लिये किसी प्रकारके भौतिक साधन या सम्बलकी आवश्यकता नहीं थी। एतदर्थ श्रद्धा, विश्वास या मानसिक परिष्कारकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि भी अनिवार्य नहीं थी; भाव, कुभाव, अनख अथवा आलस्य किसी भी प्रकार और शुचि-अशुचि—किसी भी स्थितिमें रामनाम-जपसे उसकी प्राप्ति हो सकती थी। इसके लिये घर छोड़कर जंगलोंमें धूनी रमानेकी आवश्यकता नहीं थी; अपेक्षामात्र इतनी थी कि वह अतिनिवृत्ति और अतिप्रवृत्तिसे बचकर योग और भोगके बीचका रास्ता पकड़कर—नामस्मरणके द्वारा अपने और आराध्यके बीचका सम्पर्क-सूत्र सँभाले रहे। भगवान् बुद्धने सद्धर्मके प्रचारसे मानव-चरित्रको ऊपर उठानेका यही मार्ग विधेय ठहराया था। तुलसी भी इसी निष्कर्षपर पहुँचे—

घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीचहीं राम प्रेम पुर छाय॥

यह 'रामपुर' रामराज्यका केन्द्र है। ऐसा रामराज्य, जिसमें समत्व, शान्ति और सम्पन्नताका अखण्ड निवास है, जहाँके नागरिकोंमें परस्पर स्नेह-सद्भावना है, राग-द्वेषका नामोनिशान नहीं। दुःख-दारिद्र्य फटकने नहीं पाता, अधिकार-लिप्सासे विरत होकर जहाँ सभी अपने कर्तव्यपालनमें व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार तुलसीने रामभक्तिके माध्यमसे वैयक्तिक उन्नयनको चरम सीमापर पहुँचाकर लोकोत्थानका साधन बनाया और प्रत्येक व्यक्तिको विश्वनागरिकता प्राप्त करनेका अधिकारी माना। यही उनकी अध्यात्माश्रित लोकसाधना है।

लोकनायक तुलसीने इस प्रकार व्यष्टि-साधनाको समष्टि-साधनामें परिणतकर 'भक्तिपथ'का रूप दे दिया। मानवसुलभ दुर्बलताओंसे रक्षाके लिये उन्होंने अनासक्ति एवं विवेकको इसका अभिन्न अङ्ग ठहराया। इससे इसकी दिग्विजयका पथ प्रशस्त हो गया—

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि॥

लुप्तप्राय मानवीय आदर्शकी पुनःप्रतिष्ठाके लिये समाजको जिस प्रकारके सत्याग्रही, दृढ़ और अदम्य एवं भावप्रवण आध्यात्मिक पथनिर्देशनकी आवश्यकता थी, रामचरितमानसद्वारा उसकी प्रशंसनीय ढंगसे पूर्ति हुई।

मानसकी लोकोन्मुखी भाषा-शैली

रामकी भाँति उनके वाङ्मयविग्रह रामचरितमानसका भी प्राकट्य लोकमङ्गलके लिये हुआ था। अतः रचयिताकी दृष्टि उसे लोकग्राह्य बनानेकी ओर बराबर रही। तुलसीका काव्यादर्श इसी भावनासे प्रेरित था—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥'

इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यह आवश्यक था कि उसकी रचना लोकभाषामें की जाय; क्योंकि वही सबकी समझमें आ सकती थी। इस विषयमें एक अड़चन यह

थी कि परम्परासे समादृत धर्मग्रन्थोंकी भाषा उस समय भी संस्कृत ही थी और लोकप्रसिद्ध रामकथाओं—वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्मरामायण आदिका निर्माण भी संस्कृतमें ही हुआ था। लोगोंके हृदयमें, चाहे वे साक्षर हों या निरक्षर, संस्कृत भाषाके प्रति विशेष समादरका भाव था। देव अथवा देवाधिदेवकी कथा, स्तुति और अर्चनाके लिये देववाणीकी उपयोगिता स्वतःसिद्ध थी। किंतु तुलसीके समसामयिक समाजमें उसके पढ़ने-समझनेवालोंकी संख्या नगण्य हो गयी थी। वह सिमटकर धार्मिक कृत्यों और धर्मग्रन्थोंमें जीवित रह गयी थी। लोकजीवनकी मुख्यधारासे उसका सम्पर्क टूट चुका था। तुलसी रामकथाको लोकशिक्षाका सशक्त माध्यम बनाना चाहते थे। इसलिये भी उसकी रचना देशभाषामें करना अनिवार्य था। उधर संस्कृतके प्रति लोकनिष्ठाको देखते हुए उसे भी उचित सम्मान देना था। उन्होंने मानसके प्रत्येक काण्डके मङ्गलाचरण और देवस्तुतियोंमें उसको स्थान देकर परम्परावादी प्रवृत्तियोंका सत्कार किया। प्रतीत होता है कि इसके बाद भी उनके मनमें आराध्यके पावन चरितको 'निगमागम'की भाषा त्यागकर ग्राम्यभाषामें लिखनेकी ग्लानि बनी रही। मेरे विचारमें इसका कारण लोकभाषामें किसी प्रकारकी न्यूनता अथवा अक्षमता न होकर तत्कालीन धर्माश्रयी विद्वद्वर्गका संस्कृतके प्रति आग्रह और लोकभाषाके प्रति हेयबुद्धि एवं विरोध-भावना थी।

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेसा॥
'छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥'

उन्हें ग्राम्य-गीतोंमें प्राप्त रामचरितके सहज माधुर्य एवं काव्य-सौन्दर्यका प्रत्यक्ष अनुभव था। इसलिये प्रबन्ध-रचनाके लिये लोकभाषाकी क्षमतापर उन्हें संदेह नहीं रह गया था।

स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान॥

कालान्तरमें भाषा-सम्बन्धी उनका यह अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो गया। सर्वमानवीय कल्याण-भावनाकी प्रेरणासे उन्होंने संस्कृतकी परवा छोड़कर लोकभाषाके पक्षमें निर्णय लिया।

का भाषा का संसकृत, प्रेम चाहिऐ साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करिअ कुमाच*॥

इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि तुलसीने रामकथाका ग्राम्य-भाषामें वर्णन करनेकी प्रेरणा सीधे लोकजीवनसे प्राप्त की थी—यह बात दूसरी है कि उसका स्वरूप-निर्माण उन्होंने संस्कृतके विशाल वाङ्मयका सहारा लेकर ही किया।

संयोगवश उनके आरम्भिक जीवनका अधिकांश अवध-प्रदेशमें बीता था। अयोध्या रामोपासनाका सर्वप्रतिष्ठित केन्द्र था, उनके गुरुका उससे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। नरहरिदासकी साधना-भूमि 'सूकर खेत' अयोध्याके पास पड़ती थी, वहीं बाल्यावस्थामें इन्होंने गुरुमुखसे रामायणकी अनेक आवृत्तियाँ सुनी थीं, अतः मानसकी रचना वहींकी बोलीमें हुई। रामकी जन्मभूमिकी भाषा होनेसे तुलसीका उसके प्रति आकर्षण एवं आदरभाव स्वाभाविक था।

काव्यमें वर्णित तथ्यों एवं भावोंको जन-मानसमें उतारनेके लिये भाषाका सरल, सुबोध, सरस एवं प्रवाहपूर्ण होना आवश्यक है। सहज अभिव्यक्ति ही उसकी प्राणशक्ति है। अतः काव्यशास्त्रके मर्मज्ञ और अर्थ-अक्षरके सामर्थ्यसे अवगत होते हुए भी तुलसीने कहीं भी प्रतिभा-प्रदर्शनका प्रयास नहीं किया। यह बात दूसरी है कि उनकी परावाणीमें सारे काव्य-गुण स्वतः सिमट आये हों। उनकी दृष्टि काव्यके आत्मपक्षके सँवारनेपर थी, देहतत्त्वके सजानेपर नहीं। रामभक्तिके स्वारस्यको लोक-हृदयमें यथार्थ रूपमें प्रतिष्ठित कर देनेमें ही वे काव्य-प्रतिभाकी सार्थकता मानते थे और इसीमें कविकर्मकी इतिश्री समझते थे—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

इसी भावनाने उन्हें प्राकृत जनोंके गुणगानसे विरत किया। किसी व्यक्तिकी प्रशंसा करनेमें, चाहे वह कितना ही प्रतिष्ठित और वैभव-सम्पन्न क्यों न हो, सरस्वतीका अपमान होता है—ऐसा उदात्त विचार सांसारिक प्रलोभनों एवं आकर्षणोंसे मुक्त मानवीय मूल्योंके पारखीका ही हो सकता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि राजाओं एवं दरबारी काव्यकी भर्त्सना करनेवाले तथा सामन्तों और सामन्तीय संस्कृतिके विषाक्त प्रभावसे समाजकी रक्षा करनेवाले इस जनवादी कविको वादाग्रही आलोचक आज सामन्तवादका पोषक बताने लगे हैं।

'गहि न जाय रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूझै।'

इधर रामचरितमानसमें अभिव्यक्त रामके चरितकी मानवीय न्यूनताओंकी भाँति ही तुलसीके भी मानवता-विषयक दृष्टिकोणकी तीव्र आलोचना होने लगी है। कहीं-कहीं तो इसने उग्र स्थूल विरोधका रूप ले लिया है। उन्हें ब्राह्मणवादी, शूद्रविरोधी और नारी-निन्दक कहकर सामाजिक सद्भाव एवं एकताका विरोधी घोषित किया गया है। इन आक्षेपोंपर संस्कारयुक्त चित्तसे तत्कालीन ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवेशको दृष्टिपथमें रखकर विचार करनेकी

* रेशमी कपड़ा।

आवश्यकता है। हमें यह न भूलना चाहिये कि तुलसी आजसे लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व पैदा हुए थे, जब शताब्दियोंकी विधर्मी राज्य-व्यवस्थासे आक्रान्त जनता अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये जूझ रही थी। वर्णव्यवस्था, जो कभी जन्मना और कर्मणा—दोनों प्रकारसे थी, उस समय-तक आते-आते पथराकर जन्मना ही रह गयी थी। जातीय मनीषा उसीके लौहावरणके भीतर अपने सांस्कृतिक दायको छिपाकर सँजोनेमें व्यस्त थी। बाहरी आघातोंसे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनादर्शोंमें दरारें पड़ गयी थीं और उन्हीं दरारोंके कारण मनुद्वारा स्थापित सामाजिक व्यवस्थाका गढ़ ढहनेकी स्थितिमें आ गया था। तुलसीको सांस्कृतिक प्रहरीके रूपमें इन सारे छिद्रोंको भरकर और दरारोंको पाटकर हताश तथा किंकर्तव्यविमूढ़ जन-जीवनको नयी दिशा देनी थी। प्राचीनताकी केंचुल एकदम उतार फेंकनेसे इसकी सिद्धि सम्भव नहीं थी—उन्हें जिस समाजको लेकर चलना था और जिसका परिष्कार करना था, वह पुरातनता-प्रिय था—क्रान्तिकारी परिवर्तनके झटकेसे भड़क जाता। इसलिये उन्होंने आध्यात्मिककी ही भाँति सामाजिक जीवनके क्षेत्रमें भी अतिवादिताका त्याग कर मध्यममार्गका अनुसरण किया। जहाँ एक ओर वर्णव्यवस्थाके कट्टर समर्थकके रूपमें उन्होंने ब्राह्मण, शूद्र और नारीके सम्बन्धमें परम्पराप्राप्त विचारोंका समर्थन किया, वहीं दूसरी ओर वैष्णव-भक्ति-आन्दोलनद्वारा प्रवर्तित सुधारवादी दृष्टिकोणके प्रकाशमें देशकालकी बदली हुई परिस्थितिमें उन्होंने ब्राह्मणोंके गिरते हुए चारित्रिक आदर्शोंकी खुलकर आलोचना की, रामभक्तिके माध्यमसे वसिष्ठ ऐसे युगाराध्य ब्राह्मण और भरतऐसे लोकवन्द्य क्षत्रियको शूद्रोंसे गले मिलाया और उन्हें 'भुवनभूषण' बना दिया—

कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥

इसी प्रकार स्त्री-पराधीनताको भी उन्होंने समाजका एक बहुत बड़ा अभिशाप स्वीकार किया—

'कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥'

उनकी यह संतुलित दृष्टि समाजके सभी वर्गोंपर पड़ी। धार्मिक मत-मतान्तरों, सामाजिक जीवनके आधारभूत सम्बन्धों और वैयक्तिक जीवनके नैतिक मूल्योंमें परिलक्षित मानवताके स्वस्थविकासके अवरोधक तत्त्वोंपर उन्होंने निर्मम प्रहार किये, विघटनकारी प्रवृत्तियोंको निर्मूल करके संगठन तथा सद्भावनाके विकासके लिये उन्होंने रूढ़िवादी शास्त्र-चिन्तनको, पण्डितों और पुरोहितोंके नेतृत्वको अपदस्थकर समाजके उद्धारका उत्तरदायित्व संतोंको सौंपा। उनकी यह धारणा थी कि व्यक्ति और लोकका समन्वय समदर्शी संतोंका निःस्पृह तथा पावन व्यक्तित्व ही कर सकता है—लोकमत और वेदमत दोनोंसे संतमतको वरीयता देनेका यही रहस्य था—

'संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥'

रामचरितमानसमें निरूपित उच्च मानवीय मूल्योंके द्वारा विश्व-कल्याणकी जो कल्पना तुलसीने की थी, कालान्तरमें वह साकार हुई। मध्यकालीन अन्धकारग्रस्त सामन्तवाद तथा रूढ़िजर्जर सामाजिक मान्यताओंके महल ढहकर रहे। ज्ञान-विज्ञानके आधुनिक युगमें भी, जिसे राजनीतिक चेतनाका अभूतपूर्व जागृतिकाल कह सकते हैं, युगपुरुष गांधीने तुलसीके 'रामराज्य'को ही सर्वोदय-भावापन्न आदर्श राज्यव्यवस्थाके रूपमें स्वीकार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने मानस-प्रतिपादित नाम-महिमामें दृढ़ आस्था रखते हुए 'राम-नाम' को ही जीवन तथा जगत्‌की सारी समस्याओंकी महौषधि बताया और उसकी आजीवन साधना कर 'राम-नाम' का स्मरण करते हुए एक सच्चे रामभक्तकी भाँति अपनी ऐहिक लीला संवरण की।

यह कहा जा चुका है कि तुलसीने आध्यात्मिक जीवनको ही सर्वोपरि माना था और राजनीतिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवनके उत्थानमें उसकी भूमिका अनिवार्य बतायी थी। भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलनका सूत्रपात ही धार्मिक राष्ट्रीयताके रूपमें हुआ। गांधी और विनोबाके नेतृत्वमें तो उसने पूर्णतया आध्यात्मिक रूप धारण कर लिया—तुलसीने 'धर्मरथ-प्रसङ्ग'में वैज्ञानिक उपलब्धियोंसे सुसज्जित विश्व-विजयी रावणपर भौतिक साधनोंके अभावमें भी वनवासी रामकी विजयका कारण उनका अदम्य उत्साह और उच्चकोटिकी नैतिकता बताया है। गांधीने रामके इस आत्मजयी व्यक्तित्वसे प्रेरणा प्राप्तकर अंग्रेजी साम्राज्यशाहीसे भारतभूमिका उद्धार किया। रामचरित भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राममें कितना प्रेरक रहा है, इसका पता असहयोग-आन्दोलनके समय निर्मित साहित्यसे लगता है।

आज विज्ञानकी अनियन्त्रित प्रगति और भौतिकताके कुम्भकर्णी विकासने मानव-सभ्यताको रामायण-कालकी ही भाँति विनाशके कगारपर ला खड़ा किया है। आसुरी शक्तियोंका जाल जलमें, थलपर और अन्तरिक्षमें सर्वत्र फैल गया है। अपना देश राजनीतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र हो गया है, किंतु स्वतन्त्रताके फल—सुख एवं शान्तिसे सर्वथा वञ्चित हैं। ऐसे घोर सांस्कृतिक संकटके समय मानवीय तत्त्वोंकी पुनःस्थापनाके लिये रामचरितमानसको नये सिरेसे पढ़ने-सुननेकी तथा समझने-बूझनेकी आवश्यकता है।

'मानस'के प्रणेता श्रीतुलसीदास—महापुरुष, महाकवि !

(रे० एडविन् ग्रीव्ज महोदयके विचार)

हिंदीके कवियोंमें तुलसीदास और कबीरके जोड़का कवि पाना कठिन है। काशीको इस बातका गर्व है कि उसकी गोदमें ये दोनों ही कवि फूले और फले और इन दोनोंका ही निर्मल, निष्कलङ्क जीवन तथा सुन्दर कृतियाँ सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ होते हुए परस्पर कितनी सदृश, समरस और समस्वर हैं। और भी कई लेखक और कवि ऐसे हैं, जो अपनी असाधारण योग्यता तथा काव्यकुशलताद्वारा हमारा ध्यान बरबस अपनी ओर खींचते हैं; परंतु जब हम उनके जीवनपर दृष्टिपात करते हैं तो निराशा ही हाथ आती है। भाषाका ओज उनमें खूब है, शैलीमें भी अपूर्व मादकता है; विद्वत्ता भी ऐसी कि सिर झुक जाय। परंतु उनका मानवरूप और व्यक्तिगत जीवन हमारे हृदयमें उनके प्रति न विश्वास ही उत्पन्न कर सकता है और न श्रद्धा ही। गोस्वामीजी और कबीरके साथ ऐसी बात नहीं है। उनकी अमर कृतियोंके द्वारा तो हम उनकी ओर खिंचते ही हैं; परंतु इससे भी अधिक उनके जीवनकी सादगी और पवित्रता, उनका पावन व्यक्तित्व हमारे हृदयको, हमारे मनको हठात् मोह लेता है।

× ×

रामायणमें रामके चरित्रका वर्णन बारह हजारसे कुछ ऊपर पंक्तियोंमें हुआ है। उसमें आदिसे अन्ततक अखण्डतः रामकी ही कथा नहीं है, अपितु बीच-बीचमें रामके चरित्रसे सम्बन्धित अन्य उपकथाएँ भी आती गयी हैं, और कथा इठलाती हुई, पेच खाती हुई, राहमें विरमती हुई अपनी मस्तीमें, मौजमें आगे बढ़ती चली जा रही है। लेखक किसी प्रकारकी चञ्चलता या उतावलेपनमें नहीं है, उसे कोई जल्दी नहीं है, शीघ्र पहुँचनेकी घबराहट नहीं है। वह प्रायः मार्गमें विरम जाता है, ठहरकर एक बार अपनी चारों ओरकी शोभाको सतृष्ण दृष्टिसे निहार लेता है, पासके पौधों और लता-वल्लरियोंमेंसे फूल तोड़ लेता है, राहमें मिलनेवालोंसे दो-दो बातें भी कर लेता है।

गोस्वामीजीकी महान् योग्यताका कोई बखान क्या करे, और कैसे करे ? कथावस्तुका प्रयोग जिस निराले ढंगसे किया गया है, वह उनके-जैसे चूड़ान्त कलाकारका ही कार्य है। उनकी शैलीका अनिन्द्य गौरव जहाँ एक ओर हमें चमत्कृत कर देता है, वहीं उसकी सौम्य सुषमा हमारे चित्तको अनायास लुभा लेती है। प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि क्या श्रीगोस्वामीजी केवल कुशल शब्द-शिल्पी और कहानीकार ही हैं या अन्तर्ज्ञानसम्पन्न प्रतिभाशाली महापुरुष हैं ? फिर यह भी तो जानना चाहिये कि प्रतिभाशालीका क्या अर्थ है, प्रतिभा और योग्यतामें क्या अन्तर है और इन दोनोंमें बीचकी रेखा कहाँ है। ऐसी रेखा खींचना, या प्रतिभाकी यथातथ्य व्याख्या करना प्रायः असम्भव-सा ही है। प्रतिभामें एक अद्भुत, अप्रतिहत क्षमता होती है, एक भाव होता है, एक प्रेरणा होती है, एक स्वतः-संवेद्य स्फूर्ति होती है। चेष्टा और प्रयाससे प्रतिभा नहीं आती, प्रतिभा सीखी नहीं जाती, वह श्रमसाध्य नहीं है। वह तो विनिर्मुक्त, बन्धनविहीन आत्माकी उड़ान है, जिसमें छन्दोंकी गति, लयका आरोह-अवरोह, स्वर-तालकी मूर्च्छना और गमककी कोई उपेक्षा नहीं होती; परंतु इन सबका उसमें ऐसा समाहार होता है, एक ऐसी सुस्वरता होती है, जो किसी भी सचेष्ट प्रयत्न या श्रमसाध्य कुशलतासे सर्वथा परेकी वस्तु है। संसारकी कोई भी सक्रिय चेष्टा या सामूहिक प्रयत्न प्रतिभाको जन्म नहीं दे सकता। प्रतिभा स्वतन्त्रताके परोंपर उड़ती

है, निर्बाधता ही उसकी पाँखें हैं। रामायणकी रचनाके पूर्व गोस्वामीजीने भले ही दीर्घकालतक छन्दःशास्त्रका एवं काव्यशास्त्रका अनुशीलन किया हो, परंतु उनकी कृति रामायणमें कहीं भी किसी प्रकारके श्रम अथवा चेष्टाका आभास भी नहीं मिलता। रामायणमें तो गोस्वामीजीने अपने हृदयको एक ऐसे प्रसङ्गको लेकर खोल दिया है, जो उनके जीवनका जीवन और प्राणोंका प्राण है, जो वस्तुतः उनके हृदयका सर्वस्व है।

परंतु स्वतन्त्रताकी इस स्वच्छन्द, निर्बाध धारामें संयमका कहीं भी अभाव नहीं दीखता।

छन्दोंमें विविधता एक नवीन रसका संचार करती हुई चलती है, उसके कारण कथाप्रवाहमें एक गति और स्फूर्ति आ जाती है।..............................

रामायणकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरल, सहज और प्रवाहमयी शैली है।...................

कथाका विन्यास बड़ी कुशलतासे हुआ है, भाषा और छन्दोवृत्त भी प्रसङ्गके सर्वथा अनुकूल और अनुरूप व्यवहृत हुए हैं। जहाँ, जब, जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उसके स्वारस्यको गोस्वामीजी भलीभाँति हृदयंगम करते हैं और पूरी रुचि तथा रसास्वादकी लालसाको लेकर उसमें प्रवृत्त होते हैं—वह स्थिति चाहे जैसी ही हो, गोस्वामीजीका हृदय उसके मूल रसमें प्रवेश कर जाता है.....................।

रामायणमें आये हुए हास्य और विनोदके स्थलोंको देखनेपर यह पता चलता है कि गोस्वामीजीकी प्रकृति हास्यके महत्त्वको पूर्णतः स्वीकार करती है और उसकी उपयोगितासे पूर्णतः अवगत है। धनुषभङ्गके बाद लक्ष्मण तथा परशुरामका मिलन और संवाद, परशुरामके क्रोधभरे वचन और उसे उसकाते हुए लक्ष्मणका चुहलभरा व्यंग्य।....शूर्पणखा और लक्ष्मणका संवाद भी हास्यका उद्दीपक है।....

लङ्कामें राम और रावणकी सेनाओंमें जहाँ घोर संग्राम छिड़ा हुआ है, उसके चित्रणमें कविने प्रचण्ड शक्ति और उग्र शौर्यसे काम लिया है और छन्दोंका संवेग ऐसा द्रुत और पौरुषसम्पन्न है कि वैसा पौरुष अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता। वाक्योंकी झनझनाहट, छन्दोंकी झमझमाहट युद्धकी विकरालताको प्रत्यक्ष सामने खड़ी कर देती है और कवि अपने हाथमें छन्द और भाषाको लेकर मनमाना खेल खेलता है और अपनी आवश्यकताके अनुसार उन्हें ऐसा बना लेता है कि उसकी निपुणता देखकर दाँतोंतले उँगली दबानी पड़ती है।

करुणरसके चित्र भी रामायणमें जहाँ आये हैं, वहाँ बहुत ही सजीव हैं। दशरथका दुःख और मरण—दोनों ही पाठकोंको रुलानेवाले हैं, इनका चित्रण बड़ी बारीकीसे हुआ है।

सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानसपर एक बार विहंगम-दृष्टि डालनेपर इसका प्रचुर वैचित्र्य, इसके वर्णनकी सजीवता और अभिनयरूपता, शब्द और छन्दपर कविका एकान्त अधिकार आदिको देखकर यही कहा जा सकता है कि रामायण केवल श्रीगोस्वामीजीकी ही सर्वश्रेष्ठ कृति नहीं है, अपितु समस्त हिंदी-संसारका सर्वशिरोमणि ग्रन्थ है। हिंदी-काव्य-गगनमें गोस्वामीजी सूर्यके समान देदीप्यमान हैं और दूसरे सभी कवि नक्षत्रोंके समान हैं। गोस्वामीजीके सरल, सबल और निर्मल जीवनके साथ ही उनकी कविताकी अपूर्व मिठास तथा अद्भुत शक्ति उन्हें सर्वोत्कृष्ट स्थानका अधिकारी बना देती है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

अद्भुत धीरता

बात कुछ पुरानी है। कलकत्ताके ठाकुर विश्वनाथ अपने पाण्डित्यके लिये बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। दूर-दूरके ख्यातनामा पण्डित उनके समीप कुछ सीखने आते थे। ठाकुर विश्वनाथ विद्वान् होनेके साथ ही बड़े ही विनम्र एवं शान्त प्रकृतिके थे। अभिमान तो जैसे उन्हें छू तक नहीं गया था। आनेवाले पण्डितोंको वे बड़े ही सम्मानके साथ विद्याका दान करते थे।

विद्या, धन, वैभव, अधिकार, शक्ति, प्रभुत्व आदि जब आते हैं, तब वे मनुष्यको उन्मत्त बना देते हैं। एक अजीब नशा उनमें होता है। कोई विरला ही भगवान्‌की कृपासे उस नशेकी चपेटसे बच पाता है। सुदूर प्रान्तके एक पण्डित अपने अध्यवसायसे साहित्य, व्याकरण, न्याय आदिमें विशेष योग्यता प्राप्त कर चुके थे और वे अपनेको भारतका सर्वश्रेष्ठ विद्वान् मानने लगे थे। वे जिस विद्वान्‌की चर्चा सुनते, उसीके समीप पहुँचते और शास्त्रार्थके लिये उसका आह्वान करते। अनेकों पण्डितोंको उन्होंने शास्त्रार्थमें पराजित किया। इससे उनका अभिमान और भी बढ़ गया।

पण्डित महोदयने कलकत्तेके श्रीविश्वनाथ ठाकुरका नाम सुना। उनकी प्रसिद्धिसे वे चौंक उठे। वे उन्हें शास्त्रार्थमें पराजितकर अपनी विजय-पताका फहरानेकी इच्छा लेकर कलकत्ता पहुँचे। उन्होंने विश्वनाथ ठाकुरके घर पहुँचकर उनसे शास्त्रार्थ करनेका प्रस्ताव रखा। परंतु विश्वनाथ ठाकुर तो वास्तविक 'पण्डित' थे। उन्होंने पण्डित महोदयका प्रस्ताव बड़े ही विनम्र शब्दोंमें अस्वीकार कर दिया। पण्डित महोदयको इससे संतोष नहीं हुआ। वे कलकत्ता नगरके पण्डितोंकी हँसी उड़ाने लगे और उनके पाण्डित्यके सम्बन्धमें अनर्गल बातें कहने लगे। यह देख-सुनकर भी विश्वनाथ ठाकुर चुप रहे। किंतु उनके साथी विद्वानोंको पण्डित महाशयकी कटूक्तियोंसे बड़ी पीड़ा हुई और उन्होंने ठाकुर महाशयसे प्रार्थनाके एवं अनुरोध किया कि एक शास्त्रार्थ अवश्य हो जाय। ठाकुर महाशय साथी पण्डितोंका आग्रह टाल न सके।

शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। पण्डितोंकी भीड़ लगी थी। बाहरसे पधारे हुए पण्डित महोदयने दर्शनके विषयका एक प्रश्न छेड़ा। ठाकुर महाशयने सहज भावसे उसका उत्तर दिया। फिर तो उत्तर-प्रत्युत्तर चल पड़ा। १०-१५ मिनट यह क्रम चला होगा कि ठाकुर महाशयने एक ऐसा प्रश्न उपस्थित कर दिया, जिसका उत्तर पण्डित महाशयको न सूझा। वे सकपका गये। उपस्थित पण्डित-समुदाय बड़ी आतुरताके साथ उनकी ओर देखने लगा। अपनी प्रतिष्ठाको मिट्टीमें मिलते देख पण्डित महाशय रोषमें भर गये और कोई शिष्ट उपाय न देखकर उन्होंने अभद्रताका आश्रय लिया। उन्होंने अपनी नाकपर उँगलियाँ रक्खीं और उसमेंसे सिनक निकालकर ठाकुर महाशयके मुँहपर दे मारा! पण्डित-समुदाय ठाकुर महाशयका यह अपमान देखकर आग-बबूला हो गया और वह पण्डित महाशयके निन्दनीय कार्यकी भर्त्सना करने लगा। परंतु ठाकुर महाशय अपनी सहज प्रसन्नता एवं शान्तिके साथ अविचल बने रहे। हाँ, वे उसी प्रसन्नताके साथ उठे और बाहर रखे हुए पानीसे अपना मुँह धोकर तुरंत लौट आये एवं शास्त्रार्थ करनेवाले पण्डित महोदयसे कहा—'महाशय! यह तो हुई विनोदकी बात; अब हम पुनः विषयपर आ जायँ।'

ठाकुरकी इस सहज धीरता, गम्भीरता एवं सौजन्यको देखकर पण्डित महाशयके मनमें अपने निन्दनीय कार्यके लिये परिताप जगा और उन्होंने तत्काल अपना मस्तक ठाकुर महाशयके चरणोंपर रख दिया तथा उनसे क्षमा-याचना की। पण्डित-समुदायका रोष शान्त हो गया और वे ठाकुर महाशयका जयघोष करने लगे।

(२)

लगन ऐसी होनी चाहिये

अठारहवीं शताब्दीका चतुर्थ चरण था। उन दिनों कलकत्ता भारतवर्षकी राजधानी थी। सर विलियम जोन्स हाईकोर्टके मुख्य न्यायाधीश बनकर इंग्लैंडसे भारतवर्ष आये। अपने क्षेत्रकी जनताके विचार, जीवन, साहित्य, परम्परा आदिका परिचय रखना एक न्यायाधीशके लिये आवश्यक होता है। श्रीजोन्सने इस योग्यता-प्राप्तिका निश्चय किया। अपने साथियोंसे इस विषयमें विचार-विमर्श करनेपर उन्हें ज्ञात हुआ कि 'भारतवर्षका सम्पूर्ण ज्ञान देवभाषा संस्कृतमें है, अतएव उन्हें संस्कृतका ज्ञान अर्जन करना चाहिये।' श्रीजोन्सने संकल्प किया कि वे संस्कृतका ज्ञान शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त करेंगे।

श्रीजोन्सने संस्कृत पढ़ानेवाले अध्यापककी खोज की, किंतु एक भी अध्यापक नहीं मिला। उस समय पण्डित-लोग किसी भी विदेशीको संस्कृत भाषा पढ़ानेके लिये तैयार न थे। कृष्णनगरके महाराजा श्रीशिवचन्द्रजीसे श्रीजोन्सकी

मैत्री हो गयी थी। श्रीजोन्सने अध्यापककी व्यवस्था करनेके लिये उनसे कहा। महाराजा साहबने बहुत प्रयत्न किया, किंतु वे भी अध्यापककी व्यवस्था करनेमें समर्थ न हो सके। अधिक शुल्क देनेका प्रलोभन दिया गया, पर इससे भी सफलता नहीं मिली। बहुत ही प्रयत्न करनेपर एक-दो पण्डित श्रीजोन्सको पढ़ानेके लिये आये; किंतु उनके समुदायके पण्डितोंने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा—'कुछ चाँदीके टुकड़ोंके लिये अपनी भाषा देववाणीको म्लेच्छके हाथों बेचते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? तुम्हारा आजसे हमारी बिरादरीसे बहिष्कार है। आजसे तुम्हारे साथ खान-पान, विवाह-शादीके सब सम्बन्ध समाप्त हैं।' अपने जाति-भाइयोंकी इस धमकीसे उन पण्डितोंने श्रीजोन्सको पढ़ाना छोड़ दिया।

इस घटनासे श्रीजोन्सको बड़ी निराशा हुई। उनके मनमें विचार उदय हुआ कि यह देश कैसा है, जहाँ शिक्षा-दानके लिये अध्यापक नहीं मिलते। परंतु श्रीजोन्स अपनी धुनके पक्के थे। अन्तमें उन्हें कोई ब्राह्मण अध्यापक तो नहीं मिल सका, परंतु संस्कृत भाषाके जानकार श्रीरामलोचन कविभूषण नामक ब्राह्मणेतर जातिके एक वैद्य मिले। वे पूरे फक्कड़ थे— परिवारमें न स्त्री न कोई बाल-बच्चा। हवड़ाके समीप उनका घर था। वे समाजके बहिष्कारसे भयभीत होनेवाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने पारिश्रमिकके रूपमें सौ रुपये प्रतिमास तै किये और घरसे श्रीजोन्सकी कोठीतक आने-जानेके लिये पालकीकी व्यवस्थाकी माँग की। इतना ही नहीं, उन्होंने श्रीजोन्सके सामने कई शर्तें रखीं और कहा कि इनका अक्षरशः पालन होनेपर ही वे पढ़ाना आरम्भ कर सकते हैं, शर्तें ये थीं कि (१) अध्यापनका कार्य कोठीके निचले तल्लेके एक कमरेमें होगा। (२) उस कमरेका फर्श संगमरमरका बनाया जाय। (३) एक हिंदू नौकरकी नियुक्ति की जाय, जो प्रतिदिन गङ्गाजी (हुगली) से जल लाकर कमरेका फर्श एवं सब दीवालोंको धोयेगा। (४) कुर्सी-मेज आदि कमरेकी हर चीज गङ्गाजलसे धोयी जानी चाहिये। (५) अध्यापनके पूर्व श्रीजोन्स केवल चायके एक प्यालेके अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकेंगे। (६) उस समूची कोठीमें मांस बनाना-खाना निषिद्ध होगा। श्रीजोन्सने बड़ी प्रसन्नताके साथ इन शर्तोंको स्वीकार कर लिया और अध्यापनका कार्य प्रारम्भ हुआ। परंतु एक कठिनाई अनुभव होने लगी—कविभूषणजी अंग्रेजी नहीं जानते थे और श्रीजोन्सने संस्कृत पढ़ना आरम्भ ही किया था। दोनोंका निर्वाह कैसे हो? श्रीजोन्सने भारतवर्ष आनेके पश्चात् हिंदीके जो थोड़े-बहुत शब्द सीखे थे, उन्हींके सहारे पढ़ाई चालू हुई। भाषाकी अपेक्षा शब्दोंका अर्थ हाथ, पाँव और सिरके संकेतोंसे ही व्यक्त किया और समझा जाता था। श्रीजोन्स बड़े ही कुशाग्रबुद्धि, धैर्यशाली एवं अध्यवसायी थे। भारतवर्ष आनेके पूर्व उन्होंने पारसी और अरबीका ज्ञान प्राप्त किया था। योरपकी दस भाषाएँ उन्हें आती थीं। वे ग्रीक और लैटिन भाषाओंके भी पण्डित थे। अतएव उन्हें संस्कृतका ज्ञान प्राप्त करनेमें विशेष कठिनाई अनुभव नहीं हुई। एक वर्षके परिश्रमसे उन्होंने संस्कृतका अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। फिर तो क्या था, गाड़ी सपाटेसे चल पड़ी।

आरम्भमें कविभूषणने श्रीजोन्सको प्रतिदिन काममें आनेवाले संस्कृतके शब्दोंका ज्ञान कराया। एक दिन प्रसङ्गवश उन्होंने संस्कृत नाटकोंकी चर्चा की। इसी चर्चामें कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटककी भी चर्चा आयी। श्रीजोन्स उस नाटकके प्रति बड़े आकर्षित हुए और उन्होंने उसके अध्ययनकी इच्छा व्यक्त की। यद्यपि उनका ज्ञान इतना नहीं था कि वे उस नाटकको ठीकसे समझ सकते, फिर भी इन्होंने उसे पढ़ना आरम्भ कर दिया। कुछ दिनोंमें वे नाटकके भावोंको ठीकसे ग्रहण करने लगे। पीछे उन्होंने उस नाटकका अंग्रेजी भाषामें रूपान्तर किया। इसके पश्चात् उन्होंने संस्कृतके कई अमूल्य ग्रन्थोंका भी अंग्रेजीमें अनुवाद किया तथा संस्कृतके प्रचार-प्रसारके लिये नानाविध प्रयत्न किये। संस्कृतके सेवकोंमें श्रीजोन्सका नाम विशेष आदरसे लिया जाता है। —एक संस्कृत प्रेमी

(३)

प्रार्थना आज भी सुनी जाती है

बात लगभग ५० वर्ष पूर्वकी है। कलकत्तेकी एक प्रसिद्ध मिलमें भवन-निर्माणका कुछ कार्य हो रहा था। बड़ी संख्यामें मजदूर कार्य करते थे। एक दिन एक बड़ा गाटर छतपर चढ़ाया जा रहा था। दैवयोगसे गाटर फिसल गया। परंतु एक मजदूरको छोड़कर सभी मजदूर आहत होनेसे बच गये। आहत मजदूर उड़ीसा प्रदेशका था।

मिलके मालिक बड़े सहृदय व्यक्ति थे। उन्होंने आहत मजदूरकी चिकित्सापर बड़ा ध्यान दिया, परंतु उसकी टाँगमें गहरी चोट थी। नाना प्रकारके उपचार करनेपर भी टाँग ठीक नहीं हुई, घाव बढ़ता ही गया। कलकत्ताके तत्कालीन बड़े-बड़े सर्जनोंको दिखाया गया। एक्स-रे (X-Ray) आदि करनेके पश्चात् सबने मिलकर निश्चय किया कि टाँगको आधी जाँघके समीपसे काट देनी चाहिये, अन्यथा जीवनको खतरा हो जायगा।' आपरेशनका दिन भी निश्चित कर दिया गया।

मजदूर धार्मिक प्रवृत्तिका था। प्रान्तकी परम्पराके अनुसार भगवान् श्रीजगन्नाथको ही वह सबसे बड़ा देवता

मानता था। ऑपरेशनद्वारा टाँग काट दी जानेकी बातसे उसके मन और प्राण व्याकुल हो उठे। वह मालिकों एवं डाक्टरोंके सामने बहुत रोया-गाया, परंतु उसकी बात किसीने भी नहीं सुनी। सुनता भी कौन ? सभीको टाँगकी अपेक्षा उसके जीवनकी अधिक परवा थी। जब वह मजदूर सब ओरसे निराश हो गया, तब उसने भगवान् श्रीजगन्नाथजीको पुकारना आरम्भ किया। व्यक्ति जब सब ओरसे निराश हो जाता है, तभी उसे भगवान्‌का स्मरण होता है—'हारेको हरि नाम' प्रसिद्ध ही है।

ऑपरेशनके दिनसे पहली रातमें उसकी घबराहट बहुत ही बढ़ गयी। उसे दिखायी देने लगा कि कुछ घंटों बाद उसकी टाँग काट दी जायगी। भोला-भाला मजदूर भगवान् श्रीजगन्नाथजीपर विश्वास करके उन्हें पुकारने लगा—'हे जगन्नाथ बाबा, हे जगन्नाथ बाबा! मेरी टाँग ठीक कर दीजिये।' आरम्भमें यह प्रार्थना मन्दस्वरमें प्रारम्भ हुई, किंतु थोड़ी ही देर बाद वह जोर-जोरसे पुकारने लगा—'हे जगन्नाथ बाबा, हे जगन्नाथ बाबा!' आस-पासके लोगोंने उसे चुप कराना चाहा; परंतु जिसके हृदयमें व्याकुलता एवं भयका सृजन हो चुका है, वह कैसे शान्त हो सकता है। मजदूर बराबर चिल्लाता रहा—'हे जगन्नाथ बाबा, हे जगन्नाथ बाबा!' रात बढ़ती गयी। लोग सो गये, पर मजदूर उन्मत्तकी तरह बराबर चिल्लाता रहा—'हे जगन्नाथ बाबा, हे जगन्नाथ बाबा!' उसकी वृत्तियाँ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र भगवान् श्रीजगन्नाथजीपर केन्द्रित हो गयीं। भगवान् भावग्राही हैं; जहाँ हृदयके अन्तस्तलसे पुकार हुई कि वे प्रकट हो जाते हैं। मजदूरके मन और प्राणोंमें अब भगवान् श्रीजगन्नाथके अतिरिक्त कोई भी नहीं बचा था।

रात्रिका चौथा पहर ढल रहा था। अचानक मजदूरको अनुभव हुआ—भगवान् जगन्नाथ प्रकट हुए हैं और वे उसके आहत पैरको अपने कर-कमलोंसे छू रहे हैं। भगवान्‌के स्पर्शसे उसकी टाँग उसी क्षण पूर्ण स्वस्थ हो गयी है; उसमें न कहीं घाव है, न पीड़ा। वह बिल्कुल स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त हो गया है।' कुछ बाह्य चेतना होनेपर मजदूरने सोचा—'मैंने यह क्या देखा? यह स्वप्न है या वास्तविकता?' उसने अपना पैर टटोलकर देखा तो उसे उसमें कहीं भी घाव नहीं मिला। कुछ क्षण पहलेतक वह दर्दके मारे व्याकुल था, किंतु अब उसे उस पैरमें तनिक भी पीड़ा अनुभव नहीं हो रही थी। उसने पैरको नीचे-ऊपर, इधर-उधर हिलाकर देखा, परंतु उसमें तनिक भी अस्वाभाविकताका बोध नहीं हुआ। अब उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि भगवान् जगन्नाथ सचमुच प्रकट हुए हैं और उन्होंने उसकी टाँग ठीक कर दी है। भगवान्‌की इस अद्भुत दयालुताका स्मरण कर मजदूर रोने लगा और भावावेशमें वह अपने बिस्तरपरसे नीचे उतरकर यह कहते हुए नाचने लगा—'धन्य है जगन्नाथ बाबाको! धन्य है जगन्नाथ बाबाको!! मेरा पैर ठीक हो गया, मेरी टाँग ठीक हो गयी!' मजदूरके इस प्रकार उछल-उछलकर चिल्लानेसे साथी लोग जग गये और उसे इस प्रकार नाचते देखकर आश्चर्यमें डूब गये। कोई भी समझ नहीं पा रहा था कि यह इस प्रकार कैसे करने लगा। मजदूर अपने भावकी मस्तीमें बड़ी देर तक चिल्लाता रहा, नाचता रहा; लोगोंने उसे समझा-बुझाकर शान्त किया।

दूसरे दिन प्रातःकाल डाक्टरोंकी टीम ऑपरेशनके लिये तैयार होकर आयी। उधर कम्पाउंडर आदि उस मजदूरको ऑपरेशनके लिये तैयार करनेके लिये पहुँचे। परंतु उन्होंने देखा—'मजदूर पूर्ण स्वस्थ है, उसकी टाँगमें कहीं कोई घाव नहीं है।' उन्होंने जाकर डाक्टर महानुभावोंको इस बातकी सूचना दी। डाक्टर महानुभाव आश्चर्यचकित हो गये। वे इस सूचनापर विश्वास ही नहीं कर सके। उन्होंने स्वयं आकर मजदूरको देखा, किंतु उसकी टाँग बिल्कुल स्वाभाविक अवस्थामें थी; उसमें कहीं भी घाव नहीं था और न पीड़ा ही थी। डाक्टर महानुभावोंके विस्मयका कोई पार नहीं था। उन्होंने टाँगका एक्सरे आदि किया, परंतु उन्हें उसमें कोई भी अस्वाभाविकता नहीं मिली। मजदूर हर्ष—पुलकके साथ भगवान् जगन्नाथकी कृपाका बखान कर रहा था और उसके नेत्रोंसे आनन्दके अश्रु बह रहे थे। अस्पतालके सब डाक्टर, सर्जन और कर्मचारी भगवान्‌की इस अद्भुत लीलाको देखकर आश्चर्यचकित थे।

—एक प्रार्थनाका समर्थक

(४)

साधुताका आदर्श

बात पुरानी है। हमारे परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार किसी कार्यसे कलकत्ता गये हुए थे। कलकत्तेमें गीताप्रेसकी निजी दूकान है, गोविन्दभवन नामका एक विशाल सत्सङ्ग-भवन है, जहाँपर सत्सङ्गका कार्यक्रम प्रायः चलता रहता है। ठीक स्मरण नहीं है कि श्रीभाईजी 'गोविन्द-भवन' सत्सङ्ग कराने जा रहे थे कि वहाँसे लौट रहे थे। कई व्यक्ति उनके साथ चल रहे थे। इसी बीच एक युवक श्रीभाईजीके सामने आया और हाथ फैलाकर दीनभावसे बोला—'बाबूजी, मैं भूखा हूँ, कुछ पैसे दीजिये।' श्रीभाईजीने अपनी जेबमें हाथ डाला और उसमेंसे कुछ रुपये निकाले। कुछ नोट

उनके हाथमें बाहर आये। उनमेंसे कुछ उन्होंने उस युवकको दिये और शेष रुपये अपनी पाकेटमें रख लिये। श्रीभाईजी आगे बढ़ रहे थे और वे परस्परके वार्तालापमें व्यस्त थे। अचानक उन्हें लगा कि कोई उनकी जेब छू रहा है। उन्होंने सँभालनेके उद्देश्यसे जेबकी ओर हाथ बढ़ाया। संयोगवश एक युवकका हाथ श्रीभाईजीके हाथमें आ गया। हाथको थामते हुए श्रीभाईजीने युवकके मुँहकी ओर देखा। उन्होंने पहचान लिया कि युवक वही बालक है, जो कुछ क्षण पहले उनसे भीख माँग रहा था। श्रीभाईजीके हाथमें अपना हाथ आ जानेके कारण युवक भयभीत था कि अब उसकी अच्छी तरह पूजा होगी।

श्रीभाईजीने युवककी ओर बड़े ही स्नेहसे देखा; फिर उन्होंने उसका हाथ छोड़ दिया और उसके कंधेपर प्रेमसे हाथ रखते हुए वे उसे एक किनारे ले गये। श्रीभाईजीने युवकसे कहा—'भैया! तुम रुपयेके लिये ही तो पाकेटमें हाथ डाल रहे थे, ये लो रुपये।' यों कहते हुए उन्होंने अपनी जेबमेंसे सब रुपये निकालकर उस युवकको दे दिये। युवक आश्चर्यचकित था। श्रीभाईजीने फिर कहा—'भैया! तुमसे मैं यदि कहूँ कि तुम चोरी मत करो या गिरहकटी मत करो तो यह बात तुम मानोगे नहीं। सबकी अपनी-अपनी आदत होती है। जो आदत पड़ जाती है, वह जल्दी छूटती नहीं। कम-से-कम मेरी इतनी सलाह तो तुम मान ही लो कि रुपयोंका पता लगानेके लिये "मैं भूखा हूँ" यों कहकर भीख मत माँगा करो। भूखके नामपर रुपयोंका पता लगाना और गिरहकटी करना—यह ठीक नहीं। तुम्हारी इस प्रकारकी चेष्टाका परिणाम यह होगा कि जो वास्तवमें भूखा है, वह जब भीख माँगेगा, तब उसे भी लोग गिरहकट समझकर पुलिसमें दे देंगे, उसे भीख नहीं मिलेगी और निरपराध होनेपर भी दण्ड भोगना पड़ेगा। अतः कम-से-कम मेरी इतनी बात तो तुम अवश्य मान लेना!' यह सुनकर युवक विदा हो गया! श्रीभाईजी भी अपने स्वजनोंके साथ आगे बढ़ गये।

युवक रँगेहाथ पकड़े जानेके कारण अपनी दुर्गतिकी आशङ्कासे भयभीत था, किंतु बदलेमें उसे बड़ी ही आत्मीयताका व्यवहार प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, उसे एक सच्चे संतके करका सुखद स्पर्श भी सुलभ हुआ। जीवनमें ऐसी दुर्लभ परिस्थितियाँ ही तो हृदय-परिवर्तनमें हेतु बनती हैं। युवक रुपये लेकर आगे बढ़ा, परंतु उसके हृदयमें अपने कुकृत्यके प्रति ग्लानि और पश्चात्तापका उदय हुआ।

दूसरे दिन 'गोविन्द-भवन'में श्रीभाईजीका प्रवचन हुआ। प्रवचनके पश्चात् वह युवक श्रीभाईजीसे मिला और उसने एकान्तमें श्रीभाईजीसे कुछ बातें करनी चाहीं। श्रीभाईजी तुरंत उठे और एकान्तमें जाकर उस युवकसे मिले। युवक बड़े ही करुण शब्दोंमें अपनी दीन-हीन अवस्थाका परिचय देने लगा। उसने कहा—"बाबूजी, मेरी एक बूढ़ी माँ है; अपने तथा अपनी माँके भरण-पोषणके लिये मेरे पास कोई साधन नहीं है। जो लोग यह जानते हैं कि 'मैं गिरहकट हूँ', वे न मुझे अपने पास खड़ा होने देते हैं और न कोई काम ही दिलाते हैं। जो लोग मुझे गिरहकटके रूपमें नहीं जानते, उनके पास जब मैं जाता हूँ, तब पुलिस जाकर उनको यह बता देती है कि यह युवक गिरहकट है, आप इसे अपने यहाँ कामपर न रखें। पुलिसकी डायरीमें मेरा नाम दर्ज है। पुलिसके कहनेपर वहाँसे मेरी छुट्टी हो जाती है। भूखा क्या नहीं करता, लाचार होकर मुझे गिरहकटी ही करनी पड़ती है···।' यों कहते-कहते युवकने श्रीभाईजीके चरणोंके समीप वे रुपये रख दिये, जो उन्होंने उसे कल दिये थे। रुपये रखकर उसने फिर कहा—'बाबूजी, मुझे रुपयोंकी आवश्यकता नहीं है; आप अपने रुपये ले लीजिये। मुझे आप कोई काम दिला दीजिये, जिससे मैं अपना और अपनी माँका भरण-पोषण कर सकूँ।' भाईजीने बड़ी ही सहानुभूतिपूर्वक उस युवककी बात सुनी। उनके सामने ऐसे एक नहीं अनेक व्यक्तियोंकी समस्याएँ आ चुकी थीं, जहाँ मनुष्य विवशतावश चोरी, अन्याय, झूठका आश्रय लेता है। उन्होंने उस युवकसे कहा—'भैया! ये रुपये तो तुम अपने पास रखो; अभी तुम इनसे अपना काम चलाओ। मैं शीघ्र ही गोरखपुर जानेवाला हूँ। तुम मेरे साथ वहाँ चल सकते हो।'

दो-चार दिन पश्चात् श्रीभाईजी गोरखपुर लौटे। साथमें वह युवक भी गोरखपुर आ गया। श्रीभाईजी चाहते तो उसे कलकत्तेमें ही काम दिला सकते थे; किंतु वे समझ गये थे कि उसे वहाँ कोई काम करने नहीं देगा। गोरखपुर आकर श्रीभाईजीने उसे अपने पास ही रख लिया। उन्होंने किसीको भी उस युवकके बारेमें नहीं बताया। इस प्रकार वह युवक सम्मानपूर्वक श्रीभाईजीके कहनेपर कार्य करने लगा। 'स्वभावो दुरतिक्रमः'—स्वभावमें परिवर्तन होना बड़ा ही कठिन है—यह प्रसिद्ध है। श्रीभाईजीके पास रहकर युवक कार्य करने लगा, परंतु अवसर मिलनेपर एक दिन उसके बुरे संस्कार फिर जाग्रत् हो गये। युवकने मौका पाकर अपने

साथ रहनेवाले व्यक्तियोंमेंसे एकके कुछ रुपये चुरा लिये। रुपये चोरी होनेकी बात सम्बन्धित व्यक्तिको ज्ञात हो गयी। वह बेचारा हैरान था कि अभी रुपये यहाँ पड़े थे, इतनी देरमें कहाँ चले गये। साथी लोग रुपयोंकी खोज करने लगे, पर रुपये मिले नहीं। किसीने सुझाव दिया कि वहाँ जितने भी व्यक्ति उपस्थित हैं, सबकी तलाशी ली जाय। प्रमुख व्यक्तियोंसे तलाशी लेना आरम्भ किया जाय, जिससे छोटे कर्मचारियोंके मनमें उसके लिये कोई विचार न हो।

श्रीभाईजीको किसी सूत्रसे यह बात ज्ञात हो गयी। वे तुरंत समझ गये कि 'यह कार्य उसी युवकका है, जो उनके साथ कलकत्तेसे आया है। तलाशी लेनेकी बात चल रही है। तलाशीमें उसी व्यक्तिके पास रुपये पकड़े जायँगे और वह सबकी दृष्टिमें चोर साबित हो जायगा।' उन्होंने तुरंत स्थितिको बचानेके लिये नाटक रचा। उन्होंने गीताप्रेसके मैनेजरके नाम एक छोटा-सा पत्र लिखा और उसे लेकर वे अपने कमरेके बाहर आये। वहाँ खड़े हुए एक व्यक्तिसे उन्होंने कहा—'उस युवकको बुलाओ।' व्यक्तिने पूछा—'बाबूजी, क्या काम है?' श्रीभाईजीने कहा—'चिट्ठी गीताप्रेस अभी भेजनी है। बहुत जरूरी है।' व्यक्तिने कहा—'बाबूजी, कार्यालयसे अभी-अभी कुछ रुपये गायब हो गये हैं; पता नहीं चल रहा है कि किसने लिये हैं। सबकी तलाशी होनेकी बात है। उस युवककी भी तलाशी ली जायगी। तलाशी ले लेनेके बाद ही उसको प्रेस भेजना चाहिये।'

इतना सुनना था कि श्रीभाईजी आवेशका नाट्य करते हुए बोले—'क्या वह चोर है? क्या उसने रुपये चुराये हैं? झूठा दोष लगाते हो उसपर तुम। सबकी तो बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है।' उस व्यक्तिने विनम्रतापूर्वक कहा—'बाबूजी, किसी व्यक्ति-विशेषपर संदेह नहीं किया जा रहा है। अभी रुपये थे और अभी गायब हो गये।' वह व्यक्ति कुछ और कहना चाहता था कि इसी बीचमें श्रीभाईजी बोल उठे—'मैं कहता हूँ न, उस युवकने रुपये नहीं लिये। मैं गंगाजली उठाकर कह सकता हूँ कि उसने रुपये नहीं लिये, फिर क्यों उसकी तलाशी ली जाय? क्या तुम लोगोंकी तलाशीके लिये मैं अपने कामका हर्ज करूँ? बुलाओ उसको; मुझे अभी वह पत्र उसके हाथ प्रेस भिजवाना है।'

अब कौन कुछ बोल सकता था? वह युवक बुलाया गया, श्रीभाईजीने उसको पत्र दिया और वह साइकिलसे गीताप्रेसके लिये रवाना हो गया। युवक गीताप्रेसकी ओर चला जा रहा था, पर वह किसी दूसरी ही दुनियामें था। वह मन-ही-मन श्रीभाईजीकी साधुताका स्मरण कर अपने कुकृत्यपर पश्चात्ताप कर रहा था। वह सोच रहा था—'मुझे रँगे हाथ पकड़े जानेसे बचानेके लिये भाईजीने कैसा अभिनय किया, क्या-क्या शब्द कहे! ऐसा कौन उदार होगा, जो पापीको पापी जानकर अपना उन्मुक्त प्यार दे? वह अवसर मुझे कब मिलेगा, जब मैं श्रीभाईजी-के चरणोंसे लिपटकर रोऊँगा?'

युवक पत्र गीताप्रेस पहुँचाकर घर लौटा और मन-ही-मन उस एकान्त समयकी प्रतीक्षा करने लगा, जब वह श्रीभाईजीके चरणोंपर अपने कुकृत्यको अर्पित कर सके। रात्रिके दूसरे पहरमें एकान्त पाकर वह श्रीभाईजीके पास गया और उनके चरणोंसे लिपट गया। वह फूट-फूटकर रो रहा था और बड़ी ही दीनताभरे शब्दोंमें श्रीभाईजीसे क्षमायाचना कर रहा था। उसने कहा—'बाबूजी, मैंने ही रुपये चुराये थे। ये रुपये लीजिये, ये वे ही रुपये हैं। आपने मेरी रक्षा कर ली, नहीं तो आज न जाने क्या होता। आप ही मेरी नैयाको पार लगायेंगे।' युवकके नेत्रोंसे अजस्र जलधारा बह रही थी।

श्रीभाईजीका भी हृदय भर आया। अपने वरद हाथोंसे उस युवकका मस्तक सहलाते हुए वे बड़ी ही सान्त्वनापूर्ण वाणीमें बोले—'भैया, ये रुपये तुम अपने पास ही रखो। तुम्हारी कोई आवश्यकता थी, तभी तो तुमने रुपये चुराये। भैया! मनुष्य परिस्थितिका गुलाम है। तुम्हारा कोई अभाव था, इससे तुमने चोरी की; परंतु भैया! तुमको अपने अभावकी बात मुझसे कहनी चाहिये थी। मैं तुम्हारे कहनेपर रुपये नहीं देता, तब तुम चोरी करते। अच्छा, कोई बात नहीं; भविष्यमें फिर कभी ऐसी चेष्टा मत करना। तुम्हें इसके लिये कोई कुछ भी नहीं कहेगा। तुम पहलेकी भाँति प्रसन्नतासे रहो।'

युवक फफक-फफककर रोता रहा, उसकी हिचकियाँ बँध गयीं। उसके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकला, नेत्रोंके आँसू उसके हृदय-परिवर्त्तनका संकेत दे रहे थे। उस दिनके पश्चात् युवकमें सर्वथा परिवर्तन आ गया और वह एक पवित्र एवं सम्मानित जीवन व्यतीत करने लगा।

—एक संत-चरण-सेवी

श्रीहरिः

देशके कई प्रदेशोंमें भीषण अकाल

इस समय देशके कई प्रान्तों—जैसे बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान आदिमें भीषण अकालकी स्थिति है। उन प्रान्तोंमें मनुष्यों एवं पशुओं—विशेषकर गौओंकी बड़ी शोचनीय दशा है। सरकार एवं समाज-सेवा-परायण संस्थाएँ अकाल-पीड़ित प्राणियोंको बचानेका प्रयत्न कर रही हैं। वास्तवमें बचानेवाले तो भगवान् ही हैं, तथापि यथासाध्य प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। अतएव जहाँ, जैसे सम्भव हो, उक्त प्रान्तोंके पीड़ित प्राणियोंकी शक्तिभर सेवा-सहायता करनी चाहिये। पीड़ित प्राणियोंकी सेवा भगवत्सेवा ही है।

गीताप्रेसकी ओरसे भी अपने सीमित साधनोंके अनुसार सेवा-कार्य करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। बीकानेर (राजस्थान) आदिमें 'गीताप्रेस, सेवादल'के सेवा-केन्द्रोंमें इस समय लगभग ३,५०० गोवंशकी सेवा हो रही है। वर्षा होनेतक इस सेवाकार्यको चालू रखनेकी आवश्यकता है।

तीन पुरानी पुस्तकें । प्रकाशित हो गयीं !!

बृहदारण्यकोपनिषद्

सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ६ रंगीन चित्र, पृष्ठ-संख्या १३८०, सजिल्द मूल्य ६.५०, डाकखर्च २.५०

[महर्षि वेदव्यासप्रणीत]

श्रीनरसिंहपुराण

(मूल संस्कृत हिंदी-अनुवादसहित)

आकार—डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २७८, सचित्र, मूल्य ३.००, डाकखर्च १.७०, कुल ४.७०।

इस पुराणकी गणना यद्यपि उपपुराणोंमें है, तथापि यह एक परम प्राचीन ग्रन्थ है। यह पुराण सभी प्रकार पवित्र, आकर्षक, धर्म-सदाचारादिके उपदेशोंसे सुसज्जित, भगवद्भक्ति एवं ज्ञान-विज्ञानसे ओत-प्रोत है। भगवान् विष्णुके अवतारोंकी कथा इसमें विस्तारसे प्रतिपादित है। यह 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें निकल चुका है; परंतु पाठकोंके आग्रहवश अब इसे अलगसे प्रकाशित किया गया है। आशा है, श्रेयस्कामी भक्त एवं विद्वान् पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

श्रीरामचरितमानस (सुन्दरकाण्ड)

(मूल—मोटे अक्षरोंमें)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३२, मूल्य .१५, डाकखर्च .१०, कुल .२५।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

केवल ११.५० में एक विशेषाङ्क और २६ साधारण अङ्क

'कल्याण'का पुराना प्राप्य विशेषाङ्क

(पूरी फाइलसहित, पृष्ठ-संख्या १३६२, सुन्दर रंगीन चित्र ३०)

अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क

अग्निपुराण अध्याय २०१ से समाप्तितक	गर्गसंहिता अश्वमेधखण्ड एवं माहात्म्य	नरसिंहपुराण सम्पूर्ण

उक्त विशेषाङ्क लेनेवालोंको फाइलके ११ अङ्कोंके अतिरिक्त 'कल्याण'के पुराने मासिक १५ अङ्क बिना मूल्य और दिये जायँगे। जिनमें भक्ति-ज्ञान-वैराग्यसे ओत-प्रोत उत्तम सामग्री है। पृष्ठ-संख्या ९००, सुन्दर रंगीन चित्र १५।

अतः केवल ११.५० मनीआर्डरसे भेजकर भारतीय संस्कृतिका अनुपम ग्रन्थ मँगानेकी कृपा करेंगे।

डाकखर्च हमारा होगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गौमाताकी रक्षाके लिये भगवान्से प्रार्थना कीजिये

भारतवर्ष अध्यात्मप्रधान देश है। अतएव प्रत्येक वस्तुके प्रति हमारे यहाँ आध्यात्मिक दृष्टिकोणको ही प्रमुखता दी गयी है। गाय पशु होते हुए भी हम भारतवासियोंके लिये वह 'माता' है, माताके समान पूजनीय है। यही हेतु है कि भगवान्के अवतरणमें ब्राह्मणों (संस्कृतिके रक्षकों), देवताओं एवं संतोंके साथ-साथ गौमाताकी रक्षाको भी प्रमुख हेतु माना गया है—'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।' इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गोचारण करते हैं। और भी अनेकों राजा-महाराजाओं, ऋषि-मुनियों, विद्वानों आदिने गौकी सेवा एवं रक्षाके लिये अपने प्राणोंतककी बाजी लगायी है।

आजके युगमें भी गौमाताकी सेवा एवं रक्षाके लिये धर्माचार्य, नेतागण, सामान्य जनता आदि प्रायः सभी देशवासी प्रयत्नशील हैं; अनेकों विशाल आन्दोलन भी हुए हैं, जिनमें बड़ी संख्यामें नर-नारियोंने कठोर तपस्या की है। परंतु दुर्भाग्यवश अभीतक गौकी रक्षा नहीं हो पायी है। आज भी हजारोंकी संख्यामें गौमाताका प्रतिदिन वध किया जाता है। गौमातापर होनेवाले इस नृशंस अत्याचारका भीषण फल भी सामने है—चारों ओर अशान्ति, दुःख, क्लेश, रोगों आदिकी वृद्धि हो रही है। अतएव गौमाताकी रक्षाके लिये भौतिक साधनोंका यथावत् आश्रय ग्रहण करते हुए हमें चाहिये कि हम अपने विश्वास, मान्यता आदिके अनुसार प्रतिदिन भगवान्से कातर प्रार्थना करें। साथ ही इस महान् उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने-अपने इष्ट देवताके मन्त्रका जप, स्तोत्रका पाठ आदि करें। हमारा विश्वास है कि अन्तर्हृदयकी सचाईके साथ प्रार्थना होनेपर भगवान् ऐसा संयोग अवश्य बनायेंगे, जिससे गोरक्षाका मार्ग सुगम हो जायगा।

—चिम्मनलाल गोस्वामी

श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)

(गीताप्रेसद्वारा संचालित सांस्कृतिक शिक्षा-संस्था)

इस संस्थाकी संस्थापना लगभग ५१ वर्ष पूर्व ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रयत्नसे हुई थी। तबसे अबतक इसका कार्य सुचारुरूपसे चल रहा है। इसमें प्रवेश आदिके नियम इस प्रकार हैं—

प्रवेश-आयु—(१) आठसे ग्यारह वर्षतकके द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ब्रह्मचारी लिये जाते हैं।

(२) सोलह वर्षकी अवस्थातक ब्रह्मचारीको आश्रममें रखा जाता है।

पढ़ाई—संस्कृत—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयकी प्रथमा परीक्षातक, अंग्रेजी—मैट्रिक (राजस्थान माध्यमिक शिक्षा-परिषद्),

गीता—सम्पूर्ण (उत्तमा परीक्षातक),

वेद—रुद्री, दण्डक, कर्मकाण्ड आदि।

संध्या अनिवार्य—ब्रह्मचारियोंके लिये उपनयन-संस्कारयुक्त होकर त्रिकाल-संध्या, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र करना एवं नियमित व्यायाम करना अनिवार्य है।

शुल्क—(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय ब्रह्मचारीसे ३३.०० और वैश्य ब्रह्मचारीसे ३५.०० मासिक। इसमें शिक्षा, वस्त्र, औषध, भोजन, दूध आदि सबका व्यय सम्मिलित है। कम-से-कम छः मासका शुल्क अग्रिम देना पड़ता है। (२) ब्रह्मचारीके प्रवेशकालमें अभिभावकको १००.०० (एक सौ रुपये) जमानतके रूपमें जमा कराने पड़ते हैं, जो पूरी शिक्षा प्राप्त करके ब्रह्मचारीके आश्रमसे निकलनेपर लौटा दिये जाते हैं; किंतु ब्रह्मचारीको बीचमें निकालनेपर ये रुपये वापस नहीं किये जाते। छः मासतक ब्रह्मचारीको अस्थायी भर्तीमें रखा जाता है, तदनन्तर योग्य सिद्ध होनेपर स्थायी भर्तीमें ले लिया जाता है। अपने सुयोग्य बालकको इस आश्रममें भर्ती करानेकी इच्छा रखनेवाले महानुभावोंको चाहिये कि वे निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें। ब्रह्मचारियोंकी भर्ती आषाढ़ कृष्ण ३० तदनुसार ३० जून, १९७२ तक की जायगी।

—मन्त्री, श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)